उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ सितम्बर—अक्टूबर १९८३ अंक—९-१०

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

संसार में रहकर सब कर्त्तव्यों को करते हुए जो मन को ईश्वर में स्थिर रखकर साधना कर सकता है वह यथार्थ में वीर साधक है। शक्तिमान् पुरुष ही सिर पर दो मन भारी बोझ लादकर चलते हुए गर्दन मोड़कर राह से गुजरती हुई बारात को ओर देख सकता है।

२

जब भगवान् ने तुम्हें संसार में ही रखा है तो तुम क्या करोगे ? उनकी शरण लो, उन्हें सब कुछ सौंप दो, उनके चरणों में आत्मसमर्पण करो, ऐसा करने से फिर कोई कष्ट नहीं रह जायगा। तब तुम देखोगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है

३

संसार में धन की जरूरत है तो सही, परन्तु उनके लिए ज्यादा सोचना नहीं। यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहना—अपने आप जो मिल जाए उसी में सन्तोष करना—सबसे अच्छा भाव है। संचय के लिए ज्यादा सोच मत करो। जिन्होंने अपना मन-प्राण प्रभु को सौंप दिया है, जो उनके भक्त हैं, शरणागत हैं, वे लोग यह सब इतना नहीं सोचा करते। उनके पास जैसी आय, वैसा ही व्यय। रुपया एक ओर से आता है, दूसरी ओर से खर्च हो जाता है।

४

रेल का इंजन स्वयं आगे बढ़ते हुए अपने साथ आसानी से कितने ही माल से भरे डब्बों को खींच ले जाता है। इसी तरह, ईश्वर के विश्वासी भक्त, सिर पर संसार के दुःख-कष्टों का बोझ होते हुए भी ईश्वर पर दृढ़ विश्वास और भक्ति रखकर भव सागर से आसानी से पार हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने साथ और भी अनेकों को ईश्वर की ओर ले जाते हैं।

देवी-प्रणामः

सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते ।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१॥

कलाकाष्ठादिरूपेण परिणाम प्रदायिनि ।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२॥

सर्वमङ्गल माङ्गल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥३॥

सृष्टि स्थिति विनाशानां शक्तिभूते सनातनि ।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥४॥

शरणागत दीनार्त परित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥५॥

भावार्थ—बुद्धि रूप से सब लोगों के हृदय में विराजमान रहनेवाली तथा स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करनेवाली नारायणी देवी ! तुम्हें प्रणाम है ।१।

कला, काष्टा आदि के रूप में क्रमशः परिणाम (अवस्था परिवर्तन) की ओर ले जानेवाली तथा विश्व का उपसंहार करने में समर्थ नारायणी ! तुम्हें प्रणाम है ।२।

सर्वमंगल स्वरूपा, सर्वाभीष्ट साधिका, एकमात्र शरणयोग्या, त्रिनयना (सूर्य-चन्द्र-अग्नि-लोचना) और त्रिभुवनजयी, गौरवर्णा, नारायणि, तुम्हें प्रणाम करता हूँ ।३।

सृष्टि-स्थिति-संहार की शक्तिरूपिणी सनातनी, त्रिगुण की आधारभूता और त्रिगुणमयी, हे नारायणी ! तुम्हें प्रणाम है ।४।

शरणागतों, दीनों और आर्त्तों को परित्राण प्रदान करनेवाली तथा सभी के क्लेश नाश करनेवाली हे देवि, नारायणी ! तुमको प्रणाम करता हूँ ।५।

सम्पादकीय सम्बोधन

आयी माँ आनन्दमयी

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

आज की मृत्युंजयी वेला आनन्द और उल्लास का शंख फूंकती हुई हम सबके सम्मुख उपस्थित हुई है। आखिर ऐसा क्यों न हो? स्वयं साक्षात् जगज्जननी, अनन्त करुणा—मंदाकिनी, कल्याणमयी माँ घर-घर अवतरित जो हो रही हैं, अपनी संततियों की दशा देखने, उन पर कृपामृत की वृष्टि करने, उनके मंगल की अभिवृद्धि करने। अहा, कितनी दयामयी हैं माँ दुर्गा! प्रति वर्ष कम-से-कम एक बार अपनी संतति की हित-कामना का दीप अपने आँचल में जलाकर वे आ ही जाती हैं। अपनी करुणा का प्रसाद वितरण करती हुई रमण-विचरण करती हैं—घर-घर, द्वार-द्वार! हम उन्हें बुलायें, न बुलायें, वे आती ही हैं। माँ शिशु-वत्सला होती हैं। पुत्र चाहे, न चाहे, माँ अपने मान-सम्मान का ख्याल किये बिना, उसे अपनी गोद में भर लेती है, उसकी देह में लगी धूल अपने कौशेयांचल से झाड़-पोंछकर उसे सुन्दर कर देती हैं। पुत्र भले ही कुपुत्र हो, माता कुमाता नहीं होती—कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति। हमारा कर्त्तव्य है, पुनीत धर्म है, अपने घर आयी अपनी अनन्त गुणसम्पन्ना, गुणाश्रयी, सनातनी माँ का भक्ति-भाव से, श्रद्धा-विश्वास से, नय-विनय से पूजन-अर्चन कर, उन्हें प्रसन्न करें, आह्लादित करें।

कैसी हैं हमारी यह माँ! क्या हैं हमारी यह माँ! आइए, हम इस पर तनिक विचार कर लें। समस्त जगत के कारणों का कारण, समस्त जगत के जड़-चेतन में व्याप्त जो परम चैतन्य सत्ता है, वही माँ है। हमने उसी परम चैतन्य सत्ता को, महाचिति को माँ के रूप में सम्बोधित कर उसकी पूजा-अर्चना, ध्यान-आराधना का विधान बनाया है। पूरे संसार में केवल हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें परमोच्च शक्ति की माँ के रूप में अवधारणा कर उसकी वन्दना का विधान किया गया है। क्यों है ऐसा? ऐसा इसलिए है कि माँ से बढ़कर करुणा, ममता और समता का समाहार अन्य किसी में नहीं होता। पिता भी पुत्र-वत्सल होता है और माँ भी। लेकिन दोनों में एक भेद है। पिता की वत्सलता सापेक्ष होती है, माँ की निरपेक्ष। पिता की अपनी संतान से कुछ अपेक्षाएँ होती हैं, माँ को अपनी संततियों से कोई अपेक्षा नहीं रहती। पिता के स्नेह की एक संहिता होती है। माँ के स्नेह की कोई संहिता नहीं होती। पिता का प्रेम सहेतुक होता है, माँ की ममता अहैतुकी होती है। पिता अपने बच्चे को गोद में भर लेना चाहता है अवश्य, मगर उसकी एक शर्त्त होती है कि पुत्र साफ-सुथरा हो, सजा-सँवरा हो। वह धूल या कीचड़ भरे बच्चे को अँकवारने में हिचकिचाता है। मगर माँ! माँ यह नहीं देखती कि बच्चे में धूल लगी है या कीचड़। वह तो उसे देखते ही अपनी बाँहों में भर लेती है। उसकी कितनी भी कीमती साड़ी क्यों न हो, वह उसकी परवाह नहीं करती। बल्कि गन्दे और धूल-पंक-सने बच्चे पर माँ का दृष्टि-निपात अधिक शीघ्रता से होता है तथा बच्चे की गन्दगी साफ करने में, उसको साफ-सुथरा कर सज्जित-भूषित करने में माँ को एक अशेष आन्तरिक-आह्लाद होता है। इसलिए माँ की ममता निर्बन्ध, निर्व्याज और निश्चल होती है। फिर पिता यह भी सोचता है कि बड़ा होकर लड़का मेरा सहारा बनेगा, मेरी वंश-वृद्धि करेगा, मेरा नाम-यश विस्तृत करेगा, मुझे अपनी सेवा से सुख देगा आदि-आदि। मगर माँ की ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती। माँ का प्रेम निराकुल, निष्कारण और सहज ही होता है। इसलिए परम चेतना को हमने माँ माना।

तो ऐसी ममतामयी, करुणामयी, सन्तान-वत्सला हैं हमारी भुवन-विमोहिनी, परम ऐश्वर्यमयी, भवतारिणी माँ

दुर्गा। वे ही हमारी साँसों की वायु हैं, आँखों का अलोक हैं, भुजाओं का बल हैं, पाँवों की गति हैं। वे ही हमारी चेतना हैं, वे ही हमारे प्राण हैं। हमारे सुख में वही हैं, हमारे दुःख में वही हैं। हमारे जन्म में भी वही हैं, हमारी मृत्यु में भी वही हैं। हमारे हर्ष-उल्लास में वही हैं, विषाद-व्यथा में वही हैं। उनके अतिरिक्त और है ही क्या ?

आप कहेंगे, कैसी हैं ये माता जो दुःख बनकर भी हमारे पास आती हैं ! कैसी है उनकी करुणा जो हमारी मृत्यु और शोक की संवाहिका बनकर आती है ! ऐसा ही है मित्रो। जिसे हम दुःख कहते हैं वह हमारा अज्ञान ही है। और फिर दुःख हमें द्रवणशील भी तो बनाता है। दुःख हमारे जीवन में नहीं आये तो क्या हममें कभी पर-दुःख-कातरता का, करुणा का, दयार्द्रता का उद्रेक हो सकता है ? दुःख हमारे मंगल का विधायक होता है। दुःख की काली रात के गर्भ से सुख और कल्याण के सूर्य का जन्म होता है। किसी बच्चे को फोड़ा निकल आता है तब माँ उसके मंगल के लिए अपनी गोद में उसे डालकर उसका चीरा लगवाती है। बच्चा छटपटाता है, रोता है, तड़पता है और कभी-कभी माँ को कोसता भी है। मगर माँ है कि अपनी छाती को वज्र बनाकर अपने शिशु के घाव पर नश्तर लगवाती रहती है। अगर नश्तर नहीं लगवाती तो बच्चा स्वस्थ नहीं हो पाता। ऐसे ही वह हमारे सुधार के लिए, हमारे शुभ और कल्याण के लिए कभी-कभी हम पर दुःख बरसाती है, विषाद की सृष्टि करती है और मृत्यु तक का शीतल आँचल हम पर डाल देती है।

चिन्ता क्या है ! हमें अपनी माँ से अगर प्यार है तो हमें अपनी माँ के मंगलमय विधान में विश्वास करना ही होगा। माँ कभी-कभी अपने बच्चे को स्कूल नहीं जाने पर या किसी अनुचित कार्य के करने पर, चाँटे भी जड़ देती है। लेकिन बच्चा है कि माँ की मार खाकर भी माँ-माँ ही चिल्लाता है। उससे भागता नहीं। बल्कि और भी उससे लिपटता जाता है। वैसे ही, माँ की हर क्रिया पर, हर परिस्थिति में, हमें भी अपनी माँ से लिपट जाना होगा, माँ-माँ पुकारना होगा, उसके सामने ही रुदन-क्रन्दन करना होगा। जो माँ पीटती है, वही पुचकारती भी है। हर बच्चा यह जानता है। इसीलिए हर बेटे की दृष्टि में उसकी माँ परम सुन्दरी और परम करुणामयी होती है। माँ ऐसी होती ही है। जगन्माता भी ऐसी ही हैं।

वेदों में इस जगन्माता के परम व्यापक स्वरूप का परम रम्य और दिव्य वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में उस परम देवी की व्यापकता का उल्लेख है। एक बार सभी देवता उस देवी के समीप गये और विनम्रता पूर्वक उन्होंने देवी से पूछा—हे महादेवि ! तुम कौन हो ? और भगवती ने जो उत्तर दिया, अपना स्वरूप बताने के क्रम में, वह देखिए। उन्होंने कहा—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च।

अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्मब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्।

वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ।

अर्थात् मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक सत् रूप और असत् रूप जगत् उत्पन्न हुआ है।

मैं आनन्द और अनानन्द रूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञान रूप हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ।

वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं, अजा और अनजा (प्रकृति और उससे भिन्न) भी मैं, नीचे-ऊपर, अगल-बगल भी मैं ही हूँ।

मैं रुद्रों और वसुओं के रूप में संचार करती हूँ। मैं आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में फिरा करती हूँ।

मैं मित्र और वरुण दोनों का, इन्द्र और अग्नि का तथा दोनों अश्विनी कुमारों का भरण-पोषण करती हूँ।

इसी भाँति ऋग्वेद में यह देवी अपना परिचय देती हुई, अपनी सर्वव्यापकता का अभिधान करती हुई कहती हैं—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आ विवेश॥

अर्थात् मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली, साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। मैं प्रपंचरूप से अनेक भावों में स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ-कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं। जो अन्न खाता है, वह मेरी शक्ति से ही खाता है (क्योंकि मैं ही भोक्तृ शक्ति हूँ) इसी प्रकार जो देखता है, जो साँस लेता है तथा जो कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायता से उक्त सब कर्म करने में समर्थ होता है। जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही हीन दशा को प्राप्त होते हैं। हे बहुश्रोत! मैं तुम्हें श्रद्धा से प्राप्त होने वाले ब्रह्मतत्व का उपदेश करती हूँ, सुनो—मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्यों द्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्व का वर्णन करती हूँ। मैं जिस-जिस पुरुष की रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उस को सबकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसी को सृष्टि का ब्रह्मा, परोक्षज्ञान सम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधा शक्ति से युक्त बनाती हूँ। मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरों का वध करने के लिए रुद्र के धनुष को चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागतजनों की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामी रूप से पृथ्वी और आकाश के भीतर व्याप्त रहती हूँ।

जगन्माता ने अपने व्यापक रूप का वर्णन कर मात्र यह सिद्ध किया है कि वह जगत के समस्त चराचरों में व्याप्त होकर सृष्टि में होने वाले समस्त कर्मों की मूल शक्ति हैं, आद्या शक्ति है। कर्म शुभ हो या अशुभ, सुखात्मक हो या दुःखात्मक, हर्षमय हो या विषादमय, शिवात्मक हो या अशिवात्मक सबके मूल में वही परम-शक्ति कार्य करती हैं। आप कहेंगे, यह कैसी माँ हैं जो अशुभ कर्म के मूल में भी रहती हैं! इसका उत्तर स्वामी विवेकानन्दजी के शब्दों में सुनिए। उन्होंने कहा है—'शुभ और अशुभ को दो नितान्त पृथक् सत्ताओं के रूप में देखना हमें निर्मम हृदयहीन पशु बनाता है। एक भली नारी वेश्या से विदक जाती है। क्यों? कुछ बातों में वह तुमसे अनन्त गुना अच्छी हो सकती है। यह दृष्टिकोण संसार में स्थायी ईर्ष्या और घृणा, मनुष्य और मनुष्य के, भले मनुष्य और अपेक्षाकृत कम भले अथवा बुरे मनुष्य के बीच स्थायी—व्यवधान उत्पन्न करता है। ऐसा पाशविक दृष्टिकोण केवल बुराई है, स्वयं बुराई से भी अधिक बुरी। शुभ और अशुभ पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। वरन् शुभ का विकास होता है, जो कम शुभ होता है, उसे हम अशुभ कहते हैं।'

इसलिए शुभ और अशुभ को एक ही सत्ता का स्वरूप मानकर हमें दोनों को सहर्ष स्वीकारना चाहिए। तभी हम 'माँ' के सच्चे पुत्र हो सकेंगे। हमें निर्भीक भाव से तथ्यों का सामना करना चाहिए। अशुभ के भय से भागने की क्या जरूरत है! अशुभ अशुभ है और शुभ-शुभ है। तो क्या हुआ? हमारे पीछे हमारी आनन्दमयी माँ जो खड़ी हैं? जगन्माता का पुत्र होने के कारण हमें सदैव भय से मुक्त रहकर आनन्द की साधना करनी चाहिए—आनन्दमयी माँ की प्रीति के लिए साधना करनी चाहिए।

कैसे इस आनन्दमयी माँ की प्रीति पायी जा सकती है? एक ही उत्तर है—सरलता, नम्रता, निर्वासना तथा प्रार्थना से माँ को हम अत्यन्त सुगमता से पा सकते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे—'सुई में धागा पिरोना

हो तो धागे को पहले ऐंठकर नुकीला बनाओ ताकि उसमें रोएँ न रहें। तभी वह सुई के छेद में से जा सकता है। मन को ईश्वर में निमग्न करना हो तो दीन, हीन, विनम्र बनो, वासना रूपी रोएँ दूर कर दो।'.....जब तक मनुष्य बच्चों जैसा सरल नहीं हो जाता तब तक उसे ज्ञान-लाभ नहीं होता। सब दुनियादारी, विषय बुद्धि को भूलकर बालक जैसे नादान बन जाओ, तभी तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।' सरलता का अर्थ ही है बाल-भाव। वे मेरी माँ हैं और मैं उनकी संतान। इस भाव से उपासना करने में चित्त सहज शुद्ध, निर्मल और निर्विकार हो जाता है। मन वासना-शून्य हो जाता है। वासना और साधना दोनों साथ-साथ नहीं चलतीं। श्रीरामकृष्ण देव का कथन है कि 'जब तक चित्तरूपी आकाश वासनारूपी पवन के झोंकों से चंचल और क्षुब्ध रहता है तब तक उसमें ईश्वरीय ज्योति के प्रकट होने की सम्भावना नहीं। शान्त, एकाग्र, तल्लीन चित्त में ही भगवान के दर्शन प्राप्त होते हैं।..... वास्तव में सच्चा मनुष्य वह है जो जीवित होकर भी मृत है—अर्थात् मृत व्यक्ति की तरह जिसकी कामना-वासना आदि प्रवृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं।' माँ के उपासक को अपने मन में यह भाव पालना चाहिए कि समस्त नारियाँ भगवती जगज्जननी का ही स्वरूप हैं। अतः हम सबका यह कर्त्तव्य है कि हम स्त्रियों की ओर मातृदृष्टि से देखें। जैसे बालक परम रूपवती नवयौवना नारी को देखकर भी विषयासक्त नहीं होता, वासनाभिभूत नहीं होता, कामातुर नहीं होता वैसे ही माँ के उपासक, देवी दुर्गा के उपासक में काम-भाव क्यों हो!

भगवती की प्रसन्नता की प्राप्ति और साधन के स्वरूप के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव का अमृत-कथन है—'यदि तुम भगवत्कृपा प्राप्त करना चाहते हो तो पहले आद्याशक्ति स्वरूपिणी महामाया को प्रसन्न करो। उन्होंने ही समस्त संसार को मुग्ध कर रखा है, वे ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का खेल खेल रही हैं। उन्होंने सबके ऊपर अज्ञान का परदा डाल रखा है, सबको अज्ञानी बना रखा है।...

शक्ति ही जगत् का मूल आधार है। इस आद्या शक्ति के भीतर विद्या और अविद्या दोनों हैं। अविद्या से कामिनी-कांचन उत्पन्न होते हैं, वह जीव को मोह-मुग्ध करती है और बन्धन में डालती है। विद्या से भक्ति, दया, ज्ञान और प्रेम की उत्पत्ति होती है, वह जीव को ईश्वर की ओर ले जाती है।

इस अविद्या को प्रसन्न करना होगा। इसलिए शक्ति पूजा की व्यवस्था है। उसे प्रसन्न करने के लिए नाना भावों से पूजा की जाती है। जैसे दासी भाव, वीर भाव, सन्तान भाव। शक्ति साधना कोई दिल्लगी नहीं। इसमें बड़ी कठिन और विकट साधनाएँ हैं। मैं दो साल तक जगन्माता की दासी और सखी के भाव से रहा। परन्तु मेरा तो सन्तान भाव है, मेरे लिए सभी स्त्रियों का स्तन अपनी माता के स्तन की तरह है।

स्त्रियाँ शक्ति की एक-एक मूर्ति हैं। पश्चिम की ओर विवाह के समय दूल्हे के हाथ में छुरी रहती है और बंगाल में सरौता। इसका अर्थ है, उस शक्ति स्वरूपिणी कन्या की सहायता से वर मायापाश को काट सकेगा। यह वीर भाव है। मैंने वीर भाव की साधना नहीं की। मेरा सन्तान भाव है।"

फिर माँ की प्रीति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना मन और मुख को एक कर करनी चाहिए। मन कहीं हो और मुख से कोई मंत्र उच्चरित हो तो उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। एकाग्र भाव से, व्याकुल होकर माँ से प्रार्थना करनी चाहिए। स्वयं श्रीरामकृष्ण अपनी साधना के दिनों विकल होकर कहा करते थे, 'माँ, एक दिन और बीत गया। तुमने दर्शन नहीं दिये।' ऐसी विकलता होनी चाहिए। श्रीरामकृष्ण एक दृष्टान्त प्रायः ही दिया करते थे। वे कहते थे बच्चा जब रोने लगता है तब रसोई घर में बैठी माँ वहीं से कहती है, 'रोओ नहीं, मैं यहीं हूँ।' अगर बच्चा इसपर चुप हो गया, तब माँ नहीं आती। लेकिन अगर बच्चा रोता ही रहा तब वह आती है और कोई खिलौना उसे थमा देती है। यदि बच्चा इस पर चुप होकर खिलौने से खेलने लगता है तब माँ तुरन्त रसोई घर चली जाती है। लेकिन यदि बच्चा किसी तरह चुप नहीं होता तब माँ रसोई घर का

कार्य छोड़कर बच्चे के साथ लेट जाती हैं और उसे अपने स्तनों का दूध पिलाने लगती है। इसी प्रकार अगर हम माँ के दर्शन के लिए जिद्दी बालक बन जायं तो माँ को दर्शनार्थ आना ही पड़ता है।

लेकिन हमारी प्रार्थना कैसी हो? हम प्रायः भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए माँ से प्रार्थना करते हैं। निश्चय ही माँ वह प्रार्थना भी सुनती है और भौतिक कामनाओं की भी पूर्ति करती है। मगर यह बड़ी क्षुद्र प्रार्थना है। राजा से नमक माँगने की तरह क्षुद्र प्रार्थना। यह कोई आध्यात्मिक प्रार्थना नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रार्थना के रूप पर विचार करते हुए कहा था, "हम पार्थिव वस्तुओं के लिए प्रार्थना करते हैं। किसी मन्तव्य को प्राप्त करने के लिए हम दूकानदारी रीति से ईश्वर की पूजा करते हैं। जाओ और भोजन-वस्त्र के लिए याचना करो! पूजा अच्छी बात है! कुछ सदा कुछ-नहीं से अच्छा होता है। 'एक अंधा मामा होना, एक भी मामा न होने से अच्छा है।' एक बहुत धनी युवक बीमार पड़ जाता है और अपनी बीमारी से मुक्ति पाने के लिए गरीबों को दान-देने लगता है। यह अच्छा काम है, पर तो भी धर्म नहीं है, आध्यात्मिक धर्म। यह सब पार्थिव स्तर पर है। क्या पार्थिव है और क्या पार्थिव नहीं है? जब ध्येय संसार होता है और ईश्वर उसकी प्राप्ति का साधन बनता है, तो यह पार्थिव है। जब ध्येय ईश्वर होता है और संसार उस ध्येय के प्राप्त करने का साधन मात्र बन जाता है, तो आध्यात्मिकता आरंभ हो जाती है।"[1] स्वयं श्रीरामकृष्ण ने इस सम्बन्ध में कहा, 'प्रार्थना कैसे की जाय यही मुख्य है। संसार की वस्तुओं के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, नारद की तरह प्रार्थना करनी चाहिए। नारद ने रामचन्द्र जी से कहा था, "हे राम! यही करो कि तुम्हारे चरण कमलों में मेरी शुद्ध भक्ति हो।" राम ने कहा, 'तथास्तु'। और कोई वर लो।' नारद ने कहा, कृपा कर यह वर दो कि मैं तुम्हारी भुवनमोहिनी माया में मुग्ध न हो जाऊँ।" राम ने फिर कहा, 'तथास्तु। कोई और वर मांगो।' नारद ने कहा, 'नहीं भगवान्! मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"[2]

सांसारिक वस्तुओं की मांग जगन्माता से करना निम्न दशा की उपासना है। जब हम इस जीवन के भौतिक सुखों अथवा इस संसार के किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपासना करते हैं तब हम अपनी चेतना के निम्न धरातल पर होते हैं। हम यह मानते होते हैं कि यह शरीर और संसार ही सत्य है। आनन्द का केन्द्र शरीर ही है या संसार ही। लेकिन जब हमारी चेतना शरीर और संसार के परे आनन्द के केन्द्र को जान लेती है तब वह अपनी प्रार्थना का स्वरूप आध्यात्मिक कर लेती है। स्वामी विवेकानन्द का मननीय और विचारणीय कथन है,—"अधिकांश लोगों को कभी इस मांस के पिंड और इन्द्रियों के आनन्द से ऊंचे किसी वस्तु की धारणा ही नहीं हुई। इस जीवन में भी इन बेचारों को जो आनन्द मिलते हैं, वे वही हैं, जो पशुओं को प्राप्त हैं।.....वे पशुओं को खाते हैं। वे अपनी संतान को प्यार करते हैं। क्या मनुष्य का समस्त ऐश्वर्य यही है? और हम सर्वशक्तिमान ईश्वर की पूजा करते हैं। किसलिए? केवल हमें इन पार्थिव वस्तुओं को देने के लिए और सदा उनकी रक्षा करने के लिए।.....इसका अर्थ होता है कि हम पशुओं और पक्षियों से आगे नहीं बढ़े हैं। हम उनसे अच्छे नहीं हैं। हम उनसे अधिक नहीं जानते। और हम पर बला पड़े, हमें उनसे कुछ अधिक का ज्ञान होना चाहिए! अन्तर केवल यही है कि उनके पास हमारे ईश्वर के समान ईश्वर नहीं है।.....हमारे पास भी वैसी पाँच इन्द्रियाँ हैं (जैसी कि पशुओं के हैं), केवल उनकी हमसे अच्छी हैं। हम एक कौर भोजन भी उतने स्वाद से नहीं खा सकते, जिससे कुत्ता हड्डी चिचोरता है। जीवन में हमारी अपेक्षा उन्हें अधिक आनन्द आता है; इस प्रकार हम पशुओं से तनिक हीन हैं।

---

१. विवेकानन्द साहित्य: तृतीय खण्ड: अद्वैत आश्रम, कलकत्ता: पृ० २३०

२. अमृत वाणी; रामकृष्ण मठ, नागपुर: पृ० ११९

"तुम कुछ ऐसा क्यों बनना चाहते, जिसे प्रकृति की कोई भी शक्ति तुमसे अधिक अच्छी तरह कार्यान्वित कर सकती हो ? तुम्हारे विचारने के लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। क्या तुम चाहते हो, इस जीवन को, इन इन्द्रियों को, इस शरीर को, अथवा उस वस्तु को, जो अनन्त गुनी ऊँची और उत्तम है; उस वस्तु को, जहाँ से फिर गिरना नहीं है, फिर परिवर्त्तन नहीं है ? ..... प्रत्येक बार जब तुम किसी भौतिक इच्छा की पूर्त्ति का प्रयत्न करते हो, तो तुम अपने से कहते हो—मैं शरीर हूँ, मैं आत्मा नहीं हूँ।"

भौतिक प्रार्थना का एक स्तर है—निम्न स्तर। धीरे-धीरे हमें इससे ऊपर की ओर जाना होगा। कैसे जा सकते हैं हम ऊपर ? इसकी प्रक्रियाओं पर विचार करते हुए स्वामी जी ने कहा है, "(मनुष्य) इसे कैसे करता है ? पहले वह एक विचारक बनता है। जब तुम किसी समस्या के बारे में विचार करते हो, तो उसमें विषयानन्द बिल्कुल नहीं होता, पर विचार का अविकल आनन्द होता है। ..... कोई महान् विचार लो ? वह गहरा होता जाता है। मन एकाग्र होने लगता है। तुमको अब अपने शरीर का अनुभव नहीं होगा। तुम्हारी इन्द्रियाँ रुक जाती हैं। तुम सब भौतिक अनुभवों से ऊपर उठ जाते हो, जो सब इन्द्रियों के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा था, वह अब एक विचार पर केन्द्रित हो जाता है। उस क्षण तुम पशु से ऊँचे होते हो। तुमको एक रहस्य प्राप्त होता है, जिसे तुमसे कोई नहीं ले सकता—शरीर से ऊँची किसी वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव। ..... इस स्तर में मन का लक्ष्य है, इन्द्रियों के स्तर पर नहीं।

इस प्रकार इन्द्रियों के स्तर में गुजरते हुए तुम दूसरे क्षेत्रों में अधिकाधिक प्रवेश पाते हो, और तब यह संसार स्वयं ही तुमसे अलग गिर पड़ता है। तुम उस चेतना की एक झाँकी पा लेते हो, तो तुम्हारी इन्द्रियाँ और तुम्हारे इन्द्रिय-सुख, शरीर से तुम्हारा चिपकना, सब तुमसे परे विलीन हो जायगा। आत्मा के क्षेत्र से झाँकियों पर झाँकियाँ आयेंगी। तुम्हारा योग समाप्त हो जायगा और आत्मा तुम्हारे सामने आत्मा के रूप में प्रकट होगी। तब तुम आत्मा के रूप में ईश्वर की उपासना का आरम्भ करोगे। तब तुम्हारी समझ में यह आने लगेगा कि पूजा किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए नहीं है। मूलतः हमारी उपासना वह सांत-अनन्त तत्त्व—प्रेम है, जिसे आत्मा अपने प्रभु के चरणों में एक सनातन बलि के रूप में अर्पित करती (है)। 'मैं नहीं, तू। मैं मृत हूँ। तू है, मैं नहीं हूँ। मुझे धन नहीं चाहिए, सौन्दर्य नहीं, नहीं, विद्वत्ता भी नहीं। यदि तेरी इच्छा हो, तो मुझे दो करोड़ नरकों में भेजो मेरी इच्छा केवल एक है। मैं तू बन जाऊँ, मेरे प्रिय !'[3]

अनन्त ऐश्वर्यमयी, परम आनन्दमयी जगन्माता श्री दुर्गा के प्रति भी हमारी इस प्रकार की प्रार्थना होनी चाहिए—

न मोक्षस्याकांक्षा भव विभव वांछापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव-शिव भवानीति जपतः॥

अर्थात् मुख में चन्द्रमा की शोभा धारण करनेवाली माँ ! मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं है, संसार के वैभव की अभिलाषा भी नहीं हैं, न विज्ञान की अपेक्षा है, न सुख की आकांक्षा, तुमसे मेरी याचना है कि मेरा जन्म 'मृडानी रुद्राणी, शिव, शिव, भवानी' इन नामों का जप करते हुए बीते।

भगवान् श्रीरामकृष्ण, जननी श्री सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द जी हमलोगों में जगन्माता के प्रति ऐसी ही अनाविल, निष्काम भक्ति प्रदान करें—यह मेरी उनसे आंतरिक प्रार्थना है। जय श्रीरामकृष्ण !

—:o:—

3 विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड पृ० २३१-३३

मातृ-पूजा

—स्वामी विवेकानन्द

ऐंद्रिक प्रत्यक्ष के दो युग्म तथ्य, जिनसे हम कभी छुटकारा नहीं पा सकते, सुख और दुःख हैं—जो वस्तुएँ हमें कष्ट देती हैं, वे सुख भी लाती हैं। हमारा संसार इन दोनों से बना है। हम उनसे छुटकारा नहीं पा सकते; जीवन की प्रत्येक धड़कन के साथ वे विद्यमान हैं। संसार इन दो विरोधियों के समन्वय के प्रयत्न में लगा हुआ है, ऋषि विरोधियों के इस सम्मिलन का समाधान खोज रहे हैं। कष्ट की दाहक उष्मा बीच-बीच में विश्रांति की झलकों से खण्डित होती रहती है, प्रकाश की चमक थोड़े-थोड़े समय बाद कौंध कर केवल तमिस्रा को अधिक गहन करने के लिए ही अन्धकार को भंग करती है।

बालक जन्मजात आशावादी होते हैं, पर जीवन का शेषांश एक अविच्छिन्न-स्वप्न भंग होता है; एक भी आदर्श पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जा सकता, एक भी प्यास नहीं बुझायी जा सकती। इस प्रकार वे इस पहेली को हल करने का प्रयत्न करते रहते हैं, और धर्म ने यह काम संभाल लिया है।

द्वैतवादी धर्मों में, पारसियों में, एक ईश्वर होता है और एक शैतान। यह यहूदियों के द्वारा समस्त यूरोप और अमेरिका में फैल गया है। यह हजारों वर्ष पहले की एक कामचलाऊ परिकल्पना थी, पर अब हम जानते हैं कि यह निराधार है। विशुद्ध शुभ अथवा अशुभ जैसी कोई वस्तु नहीं है; जो एक के लिए शुभ है, वही दूसरे के लिए अशुभ, आज बुरा है, कल भला और इसके विपरीत।.....

ईश्वर वास्तव में पहले एक कबीले का देवता था, बाद में वह देवताओं का ईश्वर बना। प्राचीन मिस्रियों और बेबिलोनियनों ने इस विचार (एक द्वैत ईश्वर और शैतान का) को बहुत व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित किया। उनका मोलोक देवताओं का ईश्वर बन गया और बन्दी देवता उसके मन्दिर में सिर झुकाने को बाध्य किये गये।

फिर भी पहेली बनी ही हुई है: इस अशुभ की अध्यक्षता कौन करता है? बहुत से लोग आशा का कोई आधार न होने पर भी आशा लगाये बैठे हैं कि संसार में सब भला है और यह कि गलती हमारे न समझ पाने की है। हम तिनके का सहारा ले रहे हैं, अपने सिर रेत में धँसा रहे हैं। फिर भी हम सब नैतिकता का पालन करते हैं और नैतिकता का सार है बलिदान—'मैं नहीं, तू'। फिर भी यह विश्व के महान् भले ईश्वर से कैसा भिड़ जाता है? वह (ईश्वर) अत्यन्त स्वार्थी है, घोर प्रतिहिंसक व्यक्ति—जिसे हम जानते हैं, प्लेग, अकाल, युद्ध भेजनेवाला!

हम सबको इस जीवन में अनुभव प्राप्त करने पड़ते हैं। हम कटु अनुभवों से भागने का प्रयत्न कर सकते हैं, पर देर-सबेर वे हमें पकड़ ही लेते हैं। और मुझे उस मनुष्य पर दया आती है, जो सारी चीज का सामना नहीं कर पाता।

वेदों के मनुदेव का रूपान्तर ईरान में अहिर्मन में हो गया। इस प्रकार इस प्रश्न की पौराणिक व्याख्या समाप्त हो गयी; पर प्रश्न बना रहा, और इसका कोई उत्तर नहीं था, कोई हल नहीं था।

पर देवी के प्रति प्राचीन वैदिक स्तुति में एक दूसरा भाव था। 'मैं प्रकाश हूँ। मैं सूर्य और चन्द्र की ज्योति हूँ; वायु हूँ, जो सब प्राणियों में जीवन फूँकती है।' यह वह अंकुर है, जो बाद में मातृ-पूजा के रूप में विकसित होता है। मातृ-पूजा का उद्देश्य पिता और माता के बीच भेद करना नहीं है। इसके द्वारा व्यक्त प्रथम विचार, शक्ति का विचार है—मैं वह शक्ति हूँ, जो सब जीवों में है।

शिशु नाड़ी प्रधान मनुष्य है। वह बकता रहता है और अन्त में शक्तिप्रधान मनुष्य हो जाता है। शुभ और अशुभ की धारणा आरम्भ में विभेदीकृत और विकसित नहीं थी। बुद्धिमान चेतना ने शक्ति को ही आदि विचार के रूप में दर्शाया। प्रत्येक पग पर प्रतिरोध और संघर्ष होना नियम है। हम दो के परिणाम हैं--ऊर्जा और प्रतिरोध के, अंतः और बाह्य बल के। प्रत्येक परमाणु कार्य कर रहा है और मन के प्रत्येक विचार का प्रतिरोध कर रहा है। हम जिन वस्तुओं को देखते और जानते हैं, वह सभी इन दोनों शक्तियों का परिणाम हैं।

ईश्वर का यह विचार एक नयी वस्तु है। वैदिक स्तुतियों में वरुण और इन्द्र भक्तों पर सर्वोत्तम वरदानों और आशीषों की वर्षा करते हैं—एक बहुत मानवीय कल्पना, स्वयं मनुष्य से भी अधिक मानवीय।

यह एक नया सिद्धांत है। सब घटनाओं के पीछे एक शक्ति है। शक्ति, सर्वत्र शक्ति ही है, चाहे वह अशुभ के रूप में हो, चाहे संसार के त्राता के रूप में। इस प्रकार, यह एक नवीन कल्पना है; पुरानी कल्पना नर-ईश्वर की थी। यहाँ एक सर्वव्यापी शक्ति की कल्पना का प्रथम उदय है।

'जब वह अशुभ का विनाश करना चाहता है, तब मैं रुद्र के धनुष को चढ़ाती हूँ।'

बहुत शीघ्र ही गीता में हम पाते हैं: 'हे अर्जुन, मैं सत् हूँ और मैं असत् हूँ, मैं शुभ हूँ, और मैं अशुभ हूँ, मैं संतों की शक्ति हूँ, मैं खलों की शक्ति हूँ।' पर शीघ्र ही वक्ता सत्य में जोड़-गाँठ कर देता है और यह विचार सुप्त हो जाता है। मैं तभी तक शुभ की शक्ति हूँ, जब तक वह शुभ करती रहती है।

ईरान के धर्म में शैतान की कल्पना थी; पर भारत में शैतान की धारणा नहीं थी। परवर्ती पुस्तकों ने इस नये विचार को अपनाना आरम्भ किया। अशुभ का अस्तित्व है, और इस तथ्य को मान लेना होगा। विश्व एक तथ्य है, और यदि यह तथ्य है, तो वह शुभ और अशुभ का विशाल संघात है। जो शासन करता है, वह शुभ और अशुभ पर शासन करता है। यदि वह शक्ति हमारे जीवन का कारण है तो वह हमारी मृत्यु का कारण भी है। हँसी और आँसू बन्धु हैं और इस संसार में हँसी की अपेक्षा आँसू अधिक हैं। फूल किसने बनाये, हिमालय किसने बनाये? एक बहुत अच्छे ईश्वर ने। मेरे पापों और मेरी दुर्बलताओं को किसने बनाया? कर्म ने, शैतान ने, अहं ने। फल हुआ लँगड़ा, एक टाँग का विश्व, और स्वभावतः इस विश्व का ईश्वर भी एक टाँग का ईश्वर है।

शुभ और अशुभ को दो नितान्त पृथक् सत्ताओं के रूप में देखना हमें निर्मम हृदयहीन पशु बनाता है। एक भली नारी वेश्या से विदक जाती है। क्यों? कुछ बातों में वह तुमसे अनन्त गुना अच्छी हो सकती है। यह दृष्टिकोण संसार में स्थायी ईर्ष्या और घृणा, मनुष्य और मनुष्य के, भले मनुष्य और अपेक्षाकृत कम भले अथवा बुरे मनुष्य के बीच स्थायी व्यवधान उत्पन्न करता है। ऐसा पाशविक दृष्टिकोण केवल बुराई है, स्वयं बुराई से भी अधिक बुरी। शुभ और अशुभ पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। वरन् शुभ का विकास होता है, जो कम शुभ होता है, उसे हम अशुभ कहते हैं।

कुछ संत हैं और कुछ पापी। सूर्य भले और बुरे, दोनों पर एक समान चमकता है। क्या वह उनके बीच भेद करता है?

ईश्वर के पितृत्व का पुरातन विचार सुख की अध्यक्षता करनेवाले ईश्वर की मधुर कल्पना से सम्बद्ध है। हम तथ्यों को अस्वीकार करना चाहते हैं। अशुभ का अस्तित्व नहीं है, वह शून्य है। 'मैं' बुराई है। और 'मैं' का अस्तित्व आवश्यकता से अधिक है। क्या मैं शून्य हूँ? मैं नित्य अपने को इस रूप में देखने का प्रयास करता हूँ और असफल रहता हूँ।

ये सभी विचार अशुभ से भागने के प्रयत्न हैं। पर हमें इसका सामना करना है। सम्पूर्ण का सामना करो! क्या मेरे ऊपर किसी का बन्धन है कि मैं केवल सुख और शुभ में ही ईश्वर को अपना आंशिक प्रेम दूँ और दुःख तथा अशुभ में नहीं?

वह दीपक, जिसकी ज्योति में एक मनुष्य जाली हस्ताक्षर बनाता है और दूसरा अकाल-निवारण के लिए हजार डॉलर का चेक लिखता है, दोनों पर प्रकाश डालता है, वह उनमें भेद नहीं करता। प्रकाश शुभ को नहीं जानता; तुम और मैं उसे बुरा अथवा भला बनाते हैं।

इस विचार के लिए एक नया नाम चाहिए। इसे माँ कहते हैं, क्योंकि शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका आरम्भ एक नारी कवि से हुआ, जिसे देवी का पद दिया गया था। इसके बाद सांख्य आया, और उसके अनुसार सब शक्ति स्त्री है। चुम्बक निश्चेष्ट है और लोहे के कण दौड़ रहे हैं।

भारत में सब स्त्री प्रकारों में माँ सबसे ऊँची है. पत्नी से भी ऊँची पत्नी और संतान मनुष्य को त्याग सकते हैं पर उसकी माँ कभी नहीं त्यागती। माँ सदा वैसी ही रहती है, अथवा अपने बच्चे को कदाचित् तनिक अधिक प्यार करती है। माँ वह उज्ज्वल प्रेम दर्शाती है, जिसमें सौदा नहीं होता, वह प्रेम जो कभी नहीं मरता। ऐसा प्रेम किसमें हो सकता है? केवल माँ में, पुत्र में नहीं, पुत्री में नहीं, पत्नी में नहीं।

"मैं वह शक्ति हूँ, जो सर्वत्र व्यक्त होती है." माँ कहती है—वह जो इस विश्व को जन्म दे रही है, और जो आगे आने वाले उसके विनाश को उत्पन्न कर रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विनाश सृष्टि का आरम्भ मात्र है। पर्वत की चोटी घाटी का आरम्भ मात्र है।

निर्भीक बनो, तथ्यों का सामना तथ्यों की भांति करो। अशुभ के भय से विश्व में इधर-उधर न भागो। अशुभ अशुभ है। उससे क्या?

अन्ततः, यह केवल माँ की लीला है। कोई बड़ी गम्भीर बात नहीं है। सर्वशक्तिमान को क्या हिला सकता है? वह क्या है, जिसने माँ को विश्व-निर्माण के लिए प्रेरित किया? उनका कोई लक्ष्य नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि लक्ष्य वह होता है, जिसकी अभी प्राप्ति न हुई हो। यह सृष्टि किसलिए है? केवल लीला। हम इसे भूल जाते हैं, और झगड़ने लगते हैं और दुःख भोगते हैं। हम माँ के लीलासखा हैं।

उस कष्ट को देखो, जो माँ शिशु के पालने में उठाती है। क्या उसे इसमें आनन्द आता है? निश्चय ही। वह उपवास करती है, प्रार्थना करती है नजर रखती है। वह इसे सबसे अधिक प्रेम करती है। क्यों? इसलिए कि इसमें कोई स्वार्थ नहीं है।

सुख आयेगा—बहुत ठीक। कौन रोकता है? दुःख आयेगा। उसका भी स्वागत है। एक मच्छर एक बैल के सींग पर बैठा था; अचानक उसे पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ और वह बोला "बैल महोदय, मैं बहुत देर से यहाँ बैठा हुआ हूँ। शायद आपको कष्ट हो रहा है। मुझे खेद है, मैं चला जाऊँगा।" बैल ने उत्तर दिया, 'अरे नहीं, बिल्कुल नहीं! अपने पूरे परिवार को ले आओ और मेरे सींग पर निवास करो। तुमसे मुझे क्या कष्ट होगा?"

हम दुःख से यही क्यों नहीं कह सकते? वीर होने का अर्थ है, माँ में विश्वास रखना!

'मैं जीवन हूँ, मैं मृत्यु हूँ!' यह माँ है, जिसकी छाया जीवन और मृत्यु है। सब सुखों का सुख वही है। सब दुःखों में दुःख वही है। यदि जीवन आता है, तो वह माँ है, यदि मृत्यु आती है, तो वह माँ है। यदि स्वर्ग आता है, तो वह वही है। यदि नरक आता है, तो वही माँ है; गोता लगाओ। हममें विश्वास नहीं है, हममें यह देखने का धैर्य नहीं है। हम ऐरे-गैरे पर विश्वास कर लेते हैं पर विश्व में एक ही है, जिस पर हम कभी विश्वास नहीं करते, और वह है ईश्वर। जब वह हमारे मन को करता है तो हम उस पर भरोसा करते हैं। पर समय आयेगा जब चोट पर चोट खाकर यह स्वयं पर्याप्त मन मर जायगा। हम जो कुछ करते हैं, उसमें अहं का सर्प अपना फन उठाये रहता है। हम प्रसन्न हैं कि मार्ग में इतने अधिक काँटे हैं। वे सर्प के फन में आघात करते हैं।

सबके अन्त में आयेगा। आत्म-समर्पण। तब हम अपने को माँ के प्रति अर्पित कर सकेंगे। यदि दुःख आता है, स्वागत है, यदि सुख आता है, स्वागत है। जब हम प्रेम की इस सीमा तक पहुँच जायेंगे, तो सारी टेढ़ी वस्तुएँ सीधी हो जायेंगी। ब्राह्मण, चांडाल और कुत्ते के लिए एक ही दृष्टि होगी। जब तक हम विश्व को एक दृष्टि से, निष्पक्ष, अमर प्रेम नहीं करते, हम बार-बार चूकते रहते हैं। पर तब, सब अन्तर्हित हो चुकेगा और हमें सबमें उसी अनन्त अनादि माँ के दर्शन होंगे।

[विवेकानन्द साहित्य से साभार]

५१ वर्ष पूर्व

बेलुड़ मठ में दुर्गा पूजा

बृहस्पतिवार, ६ अक्टूबर १९३२

मठ में श्री दुर्गा-पूजा हो रही है। प्रतिमा-निर्माण के समय से ही महापुरुषजी[1] माँ दुर्गा के चिन्तन में आत्म विस्मृत हो, बालक के समान प्रतिक्षण 'माँ' 'माँ' कर रहे हैं। कई बार स्वयं ही हृदय के आवेग में आह्वान-गान गा रहे हैं। और कभी-कभी मठ के किसी-किसी साधु को कोई नवीन आह्वान-गान सिखा रहे हैं। उनके हृदय का आनन्द-स्रोत मानो सहस्र धाराओं में प्रवाहित हो रहा है।

कल श्री माँ दुर्गा का बोधन हो गया है। प्रातः काल स्वामी तपानन्द ने एक गान खूब भाव के साथ गाया। महापुरुषजी बीच-बीच में भाव में तन्मय होकर 'अहा! अहा!' कर रहे हैं। अपने को सम्भाल नहीं सक रहे हैं। बड़े कष्ट से भाव संवरण कर स्वयं ही गायक से बोले, "जा, जा, भाग, भाग। भरे बजार में हाँड़ी फोड़ दी! यह (स्वयं को उद्देश्य कर) तो मानो सूखी दियासलाई की सींक बना हुआ है। ठाकुर जैसा कहते थे, 'थोड़े में ही चट करके जल उठता है, ठीक वही हुआ है।"

अपना भाव संभाल न सकने के कारण जैसे कुछ लज्जित हो गये हों।

आज सप्तमी है। प्रातः काल चार बजे से ही नहबत में आह्वान के स्वर बज रहे हैं। पूर्व निर्देशानुसार मन्दिर में आह्वान-गान हो रहा है —

'शारदा सप्तमी उषा गगनेते प्रकाशिलो,

दशदिक आलो करि दशभुजा माँ आसिलो। इत्यादि महापुरुषजी बीच-बीच में इस गान के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहे हैं। बाद में स्वयं ही गाने लगे—

आर जागास ने माँ जया, अबोध अभया

कतो करे उमा एइ घुमालो।' इत्यादि।

पूजा-मण्डप में पूजा शुरू हो गयी। मठ के साधुवृन्द और बहुत से भक्त स्त्री-पुरुष झुण्ड-के-झुण्ड महापुरुषजी के पास आ रहे हैं। वे भी सब को खूब आशीर्वाद दे रहे हैं और कह रहे हैं, 'खूब आनन्द मनाओ। माँ आयी हैं, अब आनन्द ही है, केवल आनन्द-ही-आनन्द।" प्रतिक्षण महापुरुषजी बड़ी उत्कण्ठा के साथ पूजा कहाँ तक आयी यह समाचार पूछ रहे हैं। प्राण-प्रतिष्ठा के समय तो वे और अधिक स्थिर नहीं रह सके, स्वयं पूजा-मण्डप में जाने के लिए आग्रह प्रकट करने लगे। तदनुसार उन्हें कुर्सी पर बिठाकर सेवकगण पूजा-मण्डप में ले आये। माँ का बालक हाथ जोड़कर माँ के सामने खड़ा हुआ है! कैसा दृश्य था— वर्णन नहीं किया जा सकता! प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने पर महापुरुषजी माँ को भक्ति-भाव से प्रणाम कर ऊपर आये। बड़ा गम्भीर भाव है। मुख-मण्डल एक दिव्य ज्योति से प्रदीप्त है।

दिन-भर लोगों की भीड़ रही। आज सब के लिए द्वार खुले हैं। महापुरुषजी सब को हृदय खोलकर आशीर्वाद दे रहे हैं। भक्तगण प्रसाद लेने के बाद परिपूर्ण हृदय से लौट रहे हैं।

संध्या-आरती के बाद मठ के साधुगण काली-कीर्तन कर रहे हैं। मठ के दो-चार साधु महापुरुषजी के कमरे में बैठे हैं। आज महापुरुषजी को बिल्कुल ही थकावट नहीं मालूम हो रही है। दिन-भर आनन्द में मस्त हैं। निकटस्थ साधुओं को लक्ष्य कर वे कह रहे हैं, "देखो, मठ में जैसी माँ की पूजा होती है, वैसी और कहीं नहीं होती। यहाँ की पूजा ठीक-ठीक भक्ति की पूजा है। हम लोगों की कामना नहीं है, हम तो केवल माँ की प्रीति के लिए यह पूजा करते हैं। हम

१. स्वामी श्री रामकृष्ण के अन्यतम लीला-पार्षद स्वामी शिवानन्द

लोगों की केवल एक प्रार्थना है, 'माँ' तुम प्रसन्न होओ और हम लोगों को भक्ति-विश्वास दो, समस्त जगत का कल्याण करो।' क्या कहते हो ? इतने सब साधु-ब्रह्मचारी मन लगाकर माँ की आराधना करते हैं तो क्या माँ बिना प्रसन्न हुए रह सकती हैं ? तुम सब लोग सर्वत्यागी मुमुक्षु हो, तुम लोगों की कातर पुकार से माँ क्या बिना उत्तर दिये रह सकती हैं ? यहाँ जैसा माँ का प्रकाश है, वैसा और कहीं नहीं मिलेगा। बच्चा, ठीक कहता हूँ। लोग लाखों रूपया खर्च कर सकते हैं, किन्तु ऐसी भक्ति, ऐसा विश्वास कहाँ पाओगे ? हम लोगों की तो सात्त्विक पूजा है! अहा, अनंग (स्वामी ओंकारानन्द) बड़े भक्ति-भाव से यह सब पूजा आदि करता है। शास्त्र में कहा है, यदि प्रतिमा सुन्दर हो, पूजक भक्तिमान हो, जो पूजा करावें वे शुद्ध सत्व और निष्काम हों, तभी उस पूजा में भगवान का विशेष अविर्भाव होता है। यहाँ यह सभी है, इसीलिए माँ का इतना अविर्भाव है। मठ में सब ठीक-ठीक होता है। हम लोगों के ठाकुर धर्म संस्थापन के लिए आये थे। बीच में यह सब पूजा आदि तो एक प्रकार से लुप्त ही हो गयी थी। ठाकुर आकर इन सब में मानो एक नवीन Spirit (प्राण) भर गये। इसीलिए यह सब पुनर्जीवित हो उठा है। फिर से बहुत से लोग इस पूजा आदि का अनुष्ठान करने लगे हैं। हमारे उस वराहनगर मठ से ही स्वामीजी ने दुर्गा-पूजा आरम्भ की थी। उस समय घट में ही पूजा होती थी। उसके बाद इस मठ में भी स्वामीजी ने ही सर्वप्रथम प्रतिमा-पूजा की। पूजा के समय श्री श्री माँ भी कुछ दिन यहाँ आकर रही थीं—पास के मकान में। माँ ने कहा था कि प्रतिवर्ष माँ दुर्गा यहाँ आयेंगी।"

एक संन्यासी—अच्छा महाराज, कहते हैं, पूजा में अज-बलि आवश्यक है,—सो क्या अज-बलि छोड़कर भी पूजा हो सकती है ?

महाराज—सो क्यों नहीं हो सकती ? वे ही तो वैष्णवी शक्ति के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। हम लोगों के मठ में बलि नहीं होती। यहाँ की तो सात्त्विक पूजा है। शास्त्र में मनुष्य के प्रकृति-भेद से तीन प्रकार की पूजा का निर्देश है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक पूजा में कोई बाह्य आडम्बर नहीं होता, ऐसी कोई विशेष सजावट नहीं होती। केवल भक्ति की पूजा, निष्काम भाव से माँ की प्रीति के लिए पूजा है। हम लोग भी उसी भाव से पूजा करते हैं। और जो लोग राजसिक अथवा तामसिक प्रकृति के हैं, उनकी पूजा आदि भी उसी के अनुरूप होती है। सकाम पूजा में खूब तड़क-भड़क रहती है। ऐसे लोगों के लिए शास्त्रों में पशु-बलि का निर्देश है। सार बात क्या है, जानते हो ? उनके श्री पादपद्मों में शुद्धा-भक्ति-लाभ करना। इन सब पूजा आदि का उद्देश्य भी तो वही है। माँ को यदि एक बार हृदय-मंदिर में ठीक-ठीक प्रतिष्ठित किया जा सके, तो फिर बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं रहती। अब माँ आ गयी हैं। माँ को लेकर आनन्द करो। हमलोगों के लिए, बच्चा विसर्जन नहीं है। माँ भला जायेंगी ही कहाँ ? माँ तो सदा यहीं विराजमान हैं। 'संवत्सर व्यतीते तु पुनरागमनाय च'—यह तो बाहर की बात है, साधारण लोगों की बात है। हमलोग जानते हैं कि माँ सर्वदा हमलोगों के हृदय-मन्दिर में ही विराजमान हैं।

(श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'धर्म प्रसंग में स्वामी शिवानन्द' नामक ग्रन्थ से साभार—सं०)

विश्व को भारत की देन

—श्रीमत् स्वामी अनन्यानन्दजी महाराज
(अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती हिमालय)

इस संसार में जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का एक निजी झुकाव होता है, एक विशेष दिशा होती है, जिसमें उसका जाना अनिवार्य है। व्यक्ति की तरह ही प्रत्येक राष्ट्र की भी एक विशिष्ट उन्मुखता होती है—एक निश्चित प्रक्रिया से उसका उद्भव होता है और एक विशेष रूप में वह विकसित होता है। इसके आंतरिक विकास को निर्धारित करनेवाले तत्त्वों का एक सुदीर्घ राष्ट्रीय इतिहास होता है। ये नियामक तत्त्व देश की धरती की पारंपरिक विरासत से उत्पन्न होते हैं। यह विरासत ही राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार होती है, उसके जीवन की साँस ही, जो उस राष्ट्र की अपनी खास विशेषता होती है। राष्ट्र की केन्द्रीय एवं आत्मिक ऊर्ज्जा होने के कारण यह विरासत सनातन और सदा के लिए होती है। यह निरंतर ही राष्ट्र की धमनियों में प्रवाहित होती रहती है और उस भूमि पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक सपोषण प्रदान करती हुई पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक प्रवहमान रहती है। इसके अतिरिक्त बाहरी शक्तियाँ भी हैं जो राष्ट्र के बाह्य विकास तथा रूप को प्रभावित करती हैं। ये बाहरी शक्तियाँ अस्थायी होती हैं तथा राष्ट्र की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर बदलती रहती हैं। किन्तु ये शक्तियाँ राष्ट्र के आंतरिक प्रवाह का, उसकी आत्मिक सत्ता का स्पर्श नहीं कर पातीं। इसी में राष्ट्र का वास्तविक महत्त्व निहित है—उसकी आधारभूत विलक्षणता, जिसका हिसाब उस समय रखना ही पड़ता है जब हम राष्ट्र-विशेष की संस्कृति तथा देन की अन्तर्चेतना एवं उसकी वास्तविक महिमा का मूल्यांकन करते हैं।

विगत दो हजार वर्ष और उससे दीर्घतर अवधि में भारत का इतिहास नाना प्रकार की उथल-पुथलों से भरा रहा है। इसने शताब्दियों के उग्र आघातों—सैकड़ों आक्रमणों एवं सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथलों को झेला है। इसकी मिट्टी पर सैकड़ों साम्राज्य खड़े हुए और मुरझाकर विलीन भी हो गए। बार-बार साम्राज्य संगठित हुए और वे सब विस्मृति में विलीन हो गए। बड़े-बड़े सम्राटों, शक्तिशाली शासकों तथा सामरिक शक्ति वाले सेनानियों ने इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विजय-यात्राएँ की थीं। किन्तु आज उन सभी के नाम इतिहास के मलवे के नीचे दफना दिये गये हैं। राष्ट्र उन्हें शायद ही कभी याद करता है। दूसरी तरफ, भारत कृतज्ञतापूर्वक अपने यहाँ के साधु-सन्तों को याद करता है तथा आदर एवं निष्ठापूर्वक अपने जीवन में उनकी याद सँजोए रहता है। ये ही वे देवपुरुष हैं—ईश्वरतुल्य साधु-संत—जो इसके सभी विचार एवं कर्मों को प्रेरित तथा प्रभावित करते हैं।

साधारण लोगों की बात क्या कही जाय, इस राष्ट्र की भूमि में होनेवाले बड़े-से-बड़े सम्राट भी अपनी वंश-परंपरा के आदि पुरुष के रूप में अपना इतिहास महलों और प्रासादों में रहनेवाले राजाओं; नवाबों, शूरवीर सेनानियों या बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों से न जोड़कर, उन ऋषियों से जोड़ते थे जो जंगलों में सीधा-सादा सरल जीवन जीते हुए अपनी आध्यात्मिक खोज में लगे रहते थे। भारत सांसारिक प्रभुसत्ता तथा धन-संपदा से विभूषित नर-नारियों को नहीं, बल्कि उन ईश्वरीय महानुभावों को उच्चतम सम्मान प्रदान करता रहा है जो ईश्वरीय ज्ञान एवं आध्यात्मिक अनुभूति से संपन्न हैं।

धन्य धरती

स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की थी: "धर्म और मात्र धर्म ही भारत की इस धन्य भूमि का मूलाधार, मेरुदंड एवं जीवन-केन्द्र है।" मानव-जीवन-क्रम की समस्त आध्यात्मिक उर्ज्जा का संचयन एवं संरक्षण करते हुए विश्व को उसकी माँग होने पर तथा अनुकूल परिस्थितियों में, अपने आध्यात्मिक संदेश का सम्यक् प्रसार एवं उसे प्रदान करना इस देश का सदैव एक पवित्र धार्मिक उद्देश्य रहा है। विश्व की आध्यात्मिक व्यवस्था एवं उसके नियमन की दृष्टि से इस पवित्र धार्मिक उद्देश्य की सिद्धि के हेतु ही आज भी भारत प्रगाढ़ दृढ़ता से जीवंत है।

धर्म और आध्यात्मिकता भारत के राष्ट्रीय जीवन की आधारशिलाएं हैं। ये समग्र भारतीय समाज की अंतर्गठित संरचना में अनुस्यूत हैं तथा उन्हें उत्प्रेरित करते हैं—उच्चतम स्तर से लेकर निम्नतम तक और सभी क्षेत्रों तथा विभागों में। सुदूर अवस्थित गाँव का एक साधारण किसान भी अपने धर्म के संबंध में इतनी अच्छी जानकारी रखता है, जिसे देखकर उस व्यक्ति को आश्चर्य होता है जो हमारे राष्ट्रीय जीवन की इस विचित्रता से अनवगत है। भारत धर्म एवं दर्शन का घर है, निवासालय है। भारत को इस विलक्षण चेतना तथा मानवता के प्रति उसकी सेवा का उल्लेख स्वामी विवेकानन्द ने बड़े-ही भावपूर्ण शब्दों में किया है: "यही मातृभूमि है दर्शन, अध्यात्म तथा नीतिशास्त्र की; यही है मातृभूमि माधुर्य, शील और प्रेम की!"

"यही वह भूमि है जहाँ से, समुद्र के महाज्वार की लहरों की तरह, बार-बार, अध्यात्म और दर्शन का महाप्रवाह जोरों से बाहर निकलकर चारों ओर समग्र विश्व को आप्लावित करता है। पश्चिम की विनष्ट होती हुई मानव-जाति में जीवन एवं ऊर्ज्जा का संचार करने के लिए एक बार फिर इसी भूमि से अध्यात्म की लहरों के महाज्वार को आगे बढ़ना होगा।"

भारत के इतिहास में एक अत्यंत रोचक एवं ध्यानाकर्षक घटना के बार-बार घटित होने का ज्ञान होता है। वह यह है कि जब भी कोई महान विजयशाली राष्ट्र जगकर अनेक जातियों-समुदायों को एक सूत्र में मिलाने में समर्थ हुआ तो इसका सदैव यही परिणाम हुआ कि सारा विश्व ही भारत के आध्यात्मिक विचारों से आप्लावित हो उठा। हर बार जब वह अपने आध्यात्मिक संदेश का प्रसार करने के लिए बाहर गया, उसने इसे अपने विशिष्ट एवं विलक्षण ढंग से ही किया—धीरे-धीरे, चुपचाप और बिना जताये हुए। भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन के इस विचित्र भारतीय तरीके से होनेवाले प्रसार का स्वामी विवेकानन्द ने हमारे लिए अपने अविस्मरणीय शब्दों में मूर्त्त चित्रण प्रस्तुत किया है: "विश्व के विचार में भारत का योगदान उस सौम्य एवं विनीत ओस की तरह हुआ है जो अनसुनी, अनदेखी टपककर भी सुन्दरतम गुलाब को पुष्पित करने में समर्थ होती है। मौन, प्रच्छन्न एवं अज्ञात रहकर भी प्रभावोत्पादन की दृष्टि से सर्वाधिक समर्थ, भारत की इस देन ने जगत के विचार में क्रांति ला दी है।"

धर्म और दर्शन, प्रज्ञान और अध्यात्म ही विश्व के लिए भारत की देन है। इसने सदैव अपने दोनों हाथों से इस अपूर्व कोष का वितरण किया है, उदारतापूर्वक और सद्भावपूर्ण समग्र हार्दिकता के साथ। यही इस देश के अतीत की महिमा रही है—और यही इसकी महानता का कारण भी। दूसरे राष्ट्रों को पराजित करने का कोई राजनैतिक उद्देश्य इसे कभी नहीं रहा, कोई विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा कभी नहीं रही। इसकी विजय सदैव आंतरिक संस्कृति तथा आध्यात्मिक विकास के क्षेत्रों में हुई है। आज से दो हजार वर्षों से भी अधिक पहले सम्राट अशोक ने अत्यंत ही महत्त्वपूर्वक उल्लिखित किया था: 'भारत की विजय का इतिहास उसके धर्म और अध्यात्म की विजय का इतिहास है।'

आध्यात्मिक प्रज्ञान का भण्डार

अपने अतीत के इतिहास पर ध्यान देने से हम पाते हैं कि जब कभी संसार के विभिन्न राष्ट्र किसी राजनैतिक सत्ता, सामरिक शक्ति या व्यापारिक महाभियान के द्वारा

एक साथ संलग्न हुए तथा एक विवशता भरी थकान से लाखों नर-नारियों के हृदय ग्रस्त एवं उत्पीड़ित हो उठे और उन्होंने भारत की ओर उसके उत्साहवर्द्धक एवं सान्त्वना-प्रदायक आध्यात्मिक प्रज्ञान के लिए आशाभरी दृष्टि से देखा, तो भारत ने तत्काल ही उनकी वेदना एवं उत्पीड़न का समाधान प्रस्तुत किया। संसार की वर्त्तमान त्रास-तप्त परिस्थिति में आज एक बार फिर, उस पर अपने ऐतिहासिक दायित्व को निभाने तथा अपने विशिष्ट राष्ट्रीय उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेदारी आ गयी है।

संसार की वर्त्तमान स्थिति क्या है ? हम यहाँ उसका एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण करें। विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ-साथ संसार भी अपने आकार में सिकुड़ गया है। समय और दूरी की चेतना समाप्त हो गयी है। प्रत्येक राष्ट्रीय, जातीय या समुदायगत समस्या का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं एवं प्रभावों के संदर्भ को ध्यान में रखकर ही करना पड़ता है। सभी देश गम्भीर सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं से जूझ रहे हैं। सबसे अधिक तो यह है कि नर-नारियों के मनों में—खासकर विकसित और सम्पन्न देशों में—उनकी प्राणिक सत्ता को खोखला करनेवाली एक दूषित रुग्णता की भावना उभर रही है। सर्वत्र ही भौतिक सुख-सुविधा के पीछे की मची हुई अन्धी दौड़ में मनुष्य के अपने तथा परिजनों के आध्यात्मिक जीवन और उसके सम्यक् विकास की उपेक्षा हो रही है, जो अपने उत्कर्ष से एक विचित्र सुखाभावा नीरसता तथा घोर दुःख का जनक है। आज भविष्य उदास दीखता है और खतरों एवं आशंकाओं से आच्छन्न है उसका क्षितिज। वर्त्तमान युग के इसी विशेष परिप्रेक्ष्य में—समय की पुकार से जूझने के लिए—भारत को फिर एक बार जगकर प्रस्तुत होना है, संसार में सर्वत्र व्यापी हुई राष्ट्रों के हृदय की पीड़ा को अपनी आध्यात्मिक औषधि से शांति और राहत प्रदान करने के लिए। भारत के भाग्य में निहित वह ऐतिहासिक क्षण आ गया है। और, उसे सन्नद्ध एवं प्रस्तुत होना है, राष्ट्रों की इस माँग और पुकार का समुचित समाधान करने के लिए।

कवियों ने विश्व-मानव की संसद और विश्व-संघ के महत् स्वप्न देखे हैं। और यह कोई सुदूर भविष्य की बात नहीं लगती है, अगर संसार के राष्ट्र अपने दृष्टिकोणों का ईमानदारी से अभियोजन करते हुए इस महत् लक्ष्य की दिशा में समुचित आध्यात्मिक मनोभूमि एवं साधन के द्वारा आगे बढ़ें। लेकिन आज वस्तुस्थिति यह है कि कतिपय व्यक्तियों एवं संस्थाओं के ईमानदार एवं समर्पित प्रयासों के बावजूद यह आदर्श मानवता की पकड़ के बाहर ही है। वह आदर्श हमें अपनी ओर बुलाता है; हम उसकी आवाज भी सुनते हैं, लेकिन ज्योंही हम उधर बढ़ते हैं, वह मानो पीछे की ओर सरकता जाता है। इसका कारण यह है कि हमारे पास उस ओर चलने में सहायता करनेवाली आध्यात्मिक मनोभूमि एवं उस प्रकार के साधन ही उपलब्ध नहीं हैं। इस समस्या से जूझने के हमारे ढंग में—इस महत् आदर्श को उपलब्ध होने के लिए हमारे प्रयासों में—कोई मौलिक एवं आधारभूत गलती या चूक हो जाती है। हमारी योजनाओं और प्रयासों को आध्यात्मिक आधार भूमि पर संशोधित एवं पुनः अभियोजित होना पड़ेगा। आज संसार की सर्वाधिक अभीष्ट वस्तु जिसका घोर अभाव प्रत्यक्ष होता है—आध्यात्मिकता ही है। जितनी जल्दी हमारी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ अपने कार्य एवं प्रगति के लिए अध्यात्म की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करते हुए अपने को आध्यात्मिक आधारशिला पर स्थित करेंगी, अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने की गति उतनी ही तेज होगी तथा उपलब्धियाँ भी उतनी ही अधिक सुनिश्चित और स्थायी होंगी। संसार में सर्वत्र ही मनुष्य के इन सत्-प्रयासों को अत्यावश्यक आध्यात्मिक आधार प्रदान करने के लिए भारत प्रमुख भूमिका निभा सकता है, और उसे यह निभाना ही है। इस महत् कार्य का संपादन करने के लिए भारत को अपने ही महिमान्वित इतिहास एवं परम्परा से प्रेरणा लेनी है।

एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा है; "किसी राष्ट्र या व्यक्ति का भाग्य उसकी जीवन-शक्ति की दिशा, उसका पथ-प्रदर्शन करने वाले प्रकाश तथा उन विधि-विधानों पर निर्भर करता है, जो उसका स्वरूप निर्माण करते हैं।"

जहाँ तक भारत की बात है, दार्शनिक ज्ञान के प्रकाश एवं आध्यात्मिक जीवन के विधानों ने उसकी गति को निर्देशित किया है और उसके दृष्टिकोण का निर्माण किया है। भारतीय इतिहास में सर्वाधिक महिमावान युग वे ही रहे हैं जब यह दार्शनिक प्रकाश अत्यन्त ज्वलन्त रहा और इन आध्यात्मिक विधानों ने यहाँ के लोगों की जीवन-चर्या का नियमन किया।

आध्यात्मिक चेतना की लहर

विगत शताब्दी में, भारतीय अध्यात्म के क्षितिज पर श्री रामकृष्ण देव एवं स्वामी विवेकानन्द के आगमन के साथ ही साथ एक नयी आध्यात्मिक लहर उठी है, और संसार के सुदूर विस्तृत क्षेत्रों में व्यापती हुई आध्यात्मिक क्षुधा से उद्विग्न जीवों को सांत्वना तथा शान्ति प्रदान कर रही है। स्वामी विवेकानन्द ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने यह बताया कि 'भारत की राष्ट्रीय एकता सदैव इसकी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों का एकत्रीकरण है।" संसार में अपने इस दायित्व को निभाने के हेतु—उसके आध्यात्मिक कल्याण तथा मंगल में अपना योगदान करने के लिए—भारत को अपनी 'आध्यात्मिक शक्तियों के एकत्रीकरण' में नियोजित होना होगा, जुट जाना होगा,। स्वामीजी ने, जो विश्व के संदर्भ में देश के इस दायित्व से अवगत थे, इस तैयारी को भारत की 'गृह-नीति' की संज्ञा दी थी। अद्वैत वेदान्त के शीर्षस्पर्शी, उच्चता प्रदान करने वाले विवेकसमर्थित संदेश के द्वारा अन्य राष्ट्रों के जन-मानस में आध्यात्मिक जागरण संस्फुरित करने के महत् कार्य को स्वामीजी ने भारत की 'विदेश-नीति' की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार अपने महत् विदेश-लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए गृहनीति को एक प्रकार की तैयारी या पूर्व भूमिका के क्रम में होना होगा।

उचित एवं सम्यक् दिशा में भारत के पुनर्जागरण एवं पुनर्संजीवन के उद्देश्य की पूर्त्ति ही स्वामी विवेकानन्द की गृहनीति का लक्ष्य थी। भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्मशास्त्रों में निहित सत्यों के प्रचारार्थ उपदेशकों को बनाने के लिए वे भारत में ऐसी संस्थाओं का होना आवश्यक समझते थे जो हमारे नवयुवकों को इस कार्य के लिए प्रशिक्षण प्रदान करें। वे चाहते थे कि वेदान्त के सत्य इस देश के प्रत्येक नर-नारी के निकट लाये जायँ जिससे राष्ट्रीय जीवन में बल का संचार होगा और यहाँ के लोगों में अभय तथा श्रद्धा-विश्वास की भावनाओं का स्थापन भी हो सकेगा। सद्यः विगत शताब्दियों में बाहरी शक्तियों के कारण वेदान्त मूलक यहाँ के सनातन धर्म के सत्य या तो उपेक्षित हुए या गृहत्यागी, वनवासी साधु-महात्माओं के पास जाकर वहीं रह गये हैं। उनके पवित्र-प्राचीन स्थान पर आ गये थे अत्यन्त कुरूप और भयानक अन्धविश्वास और स्थानीय रीति-रिवाजों ने ही धर्म का रूप ओढ़ लिया था। भारत का युद्ध, अत्यन्त पवित्र सनातन धर्म उपनिषदों की शीर्षस्पर्शी पूर्णता के स्तर से नीचे गिर गया था।

राष्ट्र के प्रति स्वामी विवेकानन्द के तीव्र उद्घोष एवं ऊर्ज्वस्वित सम्बोधन का उद्देश्य अवनति की इस प्रक्रिया को रोक देना ही था। वेदान्त के आध्यात्मिक आदर्शों तथा सार्वभौम सिद्धान्तों को समग्रता से समझकर जन-जन को एवं मानव-मात्र को सम्यक् रूप से सुना देने के लिए उन्होंने आतुरता पूर्वक देशवासियों को झकझोरा था। वे चाहते थे कि वेदान्त के ये विचार हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुप्रविष्ट होकर विभु हो जायें, जिससे हर कोई इन सत्यों के ज्ञान द्वारा अनन्त आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सके। वेदान्तज्ञान के इस व्यापक प्रसार द्वारा ही स्वामीजी ने भारत की धरती पर नव-जागरण का भविष्य देखा था जिससे वह अन्य राष्ट्रों के समुदाय के प्रति अपना दायित्व निभा सकेगा तथा विश्व-विचार एवं विश्व-संस्कृति में अपना योगदान करने में समर्थ हो सकेगा। संस्कृति तथा विचारके विश्व-व्यापी, सार्वभौम क्षेत्र में भारत के इसी योगदान को उन्होंने 'विदेश-नीति' की संज्ञा प्रदान की थी।

विश्व को वेदान्त की आवश्यकता

वेदान्त ही विश्व के निमित्त भारत की अद्भुत देन है, क्योंकि इसमें विवेक समर्थित सार्वभौम धर्म तथा तीव्र,

मानवता मूलक और गहरे अध्यात्म से स्पंदित दर्शन का समन्वय निष्पन्न है। वेदान्त की छत्रछाया में मानव दृष्टिकोण की उदारता विकसित कर सकता है और मन की संकीर्णता का त्याग कर सकता है जो उसकी दृष्टि को सीमित करती है और हृदय को नीरस एवं पंगु बना देती है। इसके द्वारा मनुष्य मनुष्य के निकट आ पाता है, अपने स्वभाव के मूलाधार पर, जो ईश्वरीय है और जो जाति, वर्ण, मतवाद या समुदायगत सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण कर जाता है। वेदान्त की आंखों में सभी मनुष्य समान हैं, और इस समता का एक सनातन, सार्वभौम, आध्यात्मिक मूलाधार है। इस एकमेव आधार पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की समस्त प्रयासों और अध्यवसायों को समन्वित करते हुए समग्र मानवजाति के निमित्त नियोजित किया जा सकता है। अगर सभी मनुष्यों एवं संस्थाओं के कर्त्तव्य संपादन तथा क्रिया-कलापों में वेदान्त की यह चेतना प्रविष्ट हो जाय तो मानव-जाति के लिए निरन्तर शान्ति का परम लक्ष्य मानवता को उपलब्ध ही रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय आयाम में इस वेदान्त-गर्भित चेतना को नियोजित करने की दिशा में भारत की एक विशिष्ट जिम्मेदारी है। सच तो यह है कि यह भारत का ही दायित्व है। यही विश्व के निमित्त भारत की पवित्र, धर्मभावित सेवा है। उसे इस महत् उद्देश्य के प्रति जागरूक होकर सम्यक् भावनापूर्वक इसका सम्पादन करना है, विनम्रता एवं समर्पिति से भरे हुए हृदय से।

आज के विश्व की स्थितियों का समाधान आध्यात्मिक स्तर पर ही सम्भव है; मानव जाति संस्कृति एवं चेतना की घोर संकटग्रस्त घड़ी का सामना कर रही है। संसार की इन स्थितियों के परीक्षण से स्पष्ट महसूस होता है कि मानवता के स्वस्थ-सतोगुणी तत्त्व एक आंतरिक रुग्णता से ग्रस्त हैं तथा अपने व्यतिक्रमित जीवन में फिर से संतुलन ले आने के लिए किसी आध्यात्मिक सांत्वना की खोज में है। मानवता को आध्यात्मिक योगक्षेम उपलब्ध कराने के इसी संदर्भ में शान्ति एवं दार्शनिक प्रज्ञान के संवेदनवाहक के रूप में भारत का दायित्व महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मनुष्य के लिए भौतिक सम्पत्ति एवं शक्ति से सम्पन्न होना तथा बाहर-बाहर सभ्य हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक संस्कृति आवश्यक है और यह महत्तर मूल्य की वस्तु है। जीवन सांसत्रता से अधिक गहरा तथा शरीर-वस्त्र की बाह्य सभ्यता से अत्यधिक मूल्यवान है। राष्ट्रों एवं मनुष्यों के मार्मिक जीवन केन्द्रों को विनष्ट करने वाली स्पर्धा और ईर्ष्या, संशय और घोर अभिशाप से बचाये जाने के लिए मानव-जीवन में आत्म-संयम एवं आत्मानुशासन की आवश्यकता है। भारत में युगों से अध्यात्म नीति-आचार, माधुर्य, शील एवं प्रेम की परम्परा जीवंत रही है। इसके लिए इसे पुनः एक बार अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को बटोरना होगा और स्वयं इन उच्चादर्शों से संतृप्त होना होगा ताकि वह इन्हें दूसरों को प्रदान कर सके। इसकी अन्तरात्मा से निस्सृत आशा, प्रसन्नता, आनन्द और धन्यता के इस संदेश के लिए बाहर का संसार आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है। निश्चय ही भारत को इस मार्मिक आह्वान का समाधान प्रस्तुत करना होगा। सदैव की तरह अपने विशिष्ट ढंग से ही—पृष्ठभूमि में शान्ति एवं आगे-आगे धन्यता के शुभ-आशीष लिए हुए—भारत को प्रचुरता से वितरित करना होगा, प्रज्ञान एवं आनन्द से छलकते हुए अपने हृदह-रस को।

—अनुवादक : शितिकंठ बोधिसत्व

वेदान्त दर्शनों में सर्वोत्कृष्ट और धर्मों में सर्वाधिक आश्वस्ति तथा सुख-प्रदायक है। इसमें प्रत्येक धर्म के लिए स्थान है; इतना ही नहीं, इसमें सभी धर्म अंतर्निहित हैं।

—मैक्समूलर

देवर्षि नारद

—स्वामी वेदान्तानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

[वर्तमान युग में धार्मिक साधना करनेवाले व्यक्तियों के लिए सबसे उत्तम और सरल मार्ग है भक्ति। और इस भक्ति-तत्व का जैसा सारगर्भ विवेचन देवर्षि नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। मात्र चौरासी सूत्रों में उन्होंने भक्ति—योग के समस्त अंगों—भक्ति के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन—का ऐसा सूक्ष्म एवं स्पष्ट वर्णन निपुणतापूर्वक कर दिया है कि भक्तों की सारी जिज्ञासाएँ स्वतः शान्त हो जाती हैं।

श्रीरामकृष्ण प्रायः ही कहा करते थे कि भक्ति-योग युगधर्म है। कलियुग में नारदीय भक्ति ही उपयुक्त है।' गृहस्थों को तो उनका यही उपदेश था—'तुम लोगों के लिए भक्ति ही सर्वोत्तम है।' इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज ने नारदीय भक्ति सूत्र का भाष्य बंगला भाषा में 'भक्ति प्रसंग' नामक ग्रंथ में किया है जो जितना ही गंभीर है उतना ही सरल—सुबोध भी जितना ही विशद है उतना ही हृदय-ग्राही और रमणीय भी। भारत की अन्य भाषाओं में भी भक्ति सूत्र की व्याख्याएँ उपलब्ध हैं किन्तु 'भक्ति प्रसंग' की विशेषता यह है कि 'भक्ति सूत्र' के प्रत्येक सूत्र का शब्दार्थ, सामान्य अर्थ और विशेष विश्लेषण के साथ श्रीरामकृष्ण के वचनों से उसका तारतम्य भी दिखाया गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आप में एक विशिष्ट महत्व रखता है। हिन्दी भाषियों के लिए पहलीबार उसका अनूदित रूप "विवेक शिखा" में क्रमशः प्रकाशित किया जायगा। इस रूपान्तर की पहली किश्त के रूप में यहाँ प्रस्तुत है देवर्षि नारद का सामान्य जीवन-विवेचन, जो पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक, रोचक और लाभदायक सिद्ध होगा।—सं०]

पुराण, इतिहास आदि में देवर्षि नारद के विचित्र जीवन की जो सारी कथाएँ वर्णित हुई हैं, उन सब में से कुछ चित्र नीचे प्रस्तुत किये गये हैं। नारद आधिकारिक पुरुष थे। स्रष्टा की विश्वलीला की परिपुष्टि के लिए युग-युग में उनका आविर्भाव होता है। इन सारी घटनाओं के पौर्वापर्य के निर्णय की चेष्टा व्यर्थ है। कहीं भी उनका जीवन इस रूप में वर्णित नहीं हुआ है। जीव को शिक्षा-दान देना और संसार की विचित्रताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना, उनके जीवन का व्रत है। प्रथम दृष्टि से उनके जो कार्य द्वन्द्वों और अशान्ति की सृष्टि करनेवाले प्रतीत होते हैं, गंभीर भाव से विचार करने पर उन सब कार्यों का भी यही एक उद्देश्य देखने में आता है।

नारद सृष्टिकर्त्ता लोकपितामह ब्रह्मा के मानसपुत्रों—दस प्रजापतियों[1]—में अन्यतम थे। ब्रह्मा ने उन्हें उत्पन्न कर विवाह और सन्तानोत्पादन के द्वारा उन्हें सृष्टि का विस्तार करने का आदेश दिया। किन्तु उन्होंने विरागी होकर जन्म-ग्रहण किया था। पिता का आदेश उनको मनःपूत नहीं लगा। संसार में बिना बँधकर एकान्तभाव से श्रीहरि की सेवा में अपना जीवन-यापन करने का अभिप्राय उन्होंने अभिव्यक्त किया। पितामह ने क्रुद्ध होकर उन्हें अभिशाप दिया, 'तुमने, चूँकि मेरे आदेश को अस्वीकार किया है; इसलिए तुम कामुक और स्त्रीजित होकर सुदीर्घ काल व्यतीत करोगे।' इस अभिशाप के द्वारा, लगता है कि पितामह ने यही सीख दी—भोग के बिना त्याग नहीं होता, उपयुक्त गुरु के

१. मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वशिष्ठ, भृगु और नारद।

निकट शिक्षा प्राप्त किये बिना वैराग्य के पथ पर अग्रसर होने से बिडम्बित होना पड़ता है।

ब्रह्मा के अभिशाप से नारद ने उपबर्हण नामक गन्धर्व के रूप में जन्मग्रहण किया तथा रूप-यौवन से सम्पन्न होकर अनेक अप्सराओं के साथ नृत्य—गीत—वाद्य में प्रमत्त भाव से वे समय व्यतीत करने लगे। एक बार देवताओं के यज्ञ में हरि-कथा-गायन के लिए गंधर्वों एवं अप्सराओं को आमंत्रित किया गया था। देवों और ऋषियों के समाज में श्रीभगवान का लीलाकीर्तन होगा—यह जानकर भी उपबर्हण अप्सराओं से घिरे हुए लौकिक गीत गाते-गाते सभास्थल में उपस्थित हुए। उपबर्हण के द्वारा यह अवहेलना देखकर देवताओं ने उन्हें शाप दिया, "चूँकि तुमने रूप-यौवन के मद में उन्मत्त होकर हमलोगों के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की है इसलिए तुम्हारा सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और तुम शीघ्र ही शूद्रत्व प्राप्त करोगे।" इसी पाप के परिणाम से नारद ने एक दासी के पुत्र के रूप में जन्म-ग्रहण किया।

इस नर-जन्म में उनके पिता कौन थे, अथवा उनकी माता का क्या नाम था, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। इस जन्म की कथा का उन्होंने व्यासदेव के निकट अपने मुख से वर्णन किया था। वे अपनी माता के एकमात्र पुत्र थे। उनकी माता एक ब्राह्मण के यहाँ दासी का कार्य करती थी। एकबार वर्षा-यापन के लिए उसी ब्राह्मण के घर पर अनेक साधु पुरुषों का आगमन हुआ। नारद की उम्र उस समय पाँच साल की थी। ब्राह्मण ने उक्त बालक को साधुओं की सेवा के लिए नियुक्त किया।

बालक नारद खेलधूप छोड़कर सर्वदा साधुओं का आदेशपालन करने को तत्पर रहते। साधुगण भगबत्प्रसंग करते; नारद उन्हें एकाग्रमन से सुनते। काम के समय उनके घरों में झाड़ू लगाते, जूठे स्थल को साफ करते। दिन में एक बार वे साधुओं के बचे हुए भोजग का प्रसाद ग्रहण करते। साधु-संग और साधु-सेवा के फल से उनके मन की मलिनता दूर हो गयी। श्रीभगवान की कथा सुनते-सुनते उनके प्रति बालक का अनुराग उत्पन्न हुआ। चातुर्मास्य-यापन के अन्त में ब्राह्मण का गृहत्याग कर चले जाने के पहले ही साधुगण धीर, स्थिर, संयत, श्रद्धावान् बालक नारद को साधना का उपदेश दे गये। इसके बाद नारद को और अधिक दिन ब्राह्मण के घर में नहीं रहना पड़ा।

अँधेरी रात में ब्राह्मण की गाय दूहने के लिए जाते समय नारद की माँ को रास्ते में साँप ने काट लिया। सर्पाघात से शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गयी। माँ की मृत्यु को श्रीभगवान की इच्छा मानकर नारद ने ब्राह्मण का घर छोड़ दिया एवं और काफी दूर राह पारकर एक निर्जन वन में प्रवेश किया। वहाँ एकाग्र चित्त से श्रीभगबान के ध्यान में वे रत रहे। बालक भक्त की व्याकुल प्रार्थना से नारायण क्षणभर के लिए उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये। वह शोकनाशन मनोभिराम रूप और नहीं देख पाकर बालक की व्याकुलता अत्यधिक बढ़ गयी। ध्यान की सहायता से उस रूप के पुनः दर्शन के लिए उन्होंने काफी चेष्टा की। तब उन्हें सान्त्वना देने के लिए नारायण ने अदृश्य रूप से उपस्थित होकर कहा, 'वत्स, इस जन्म में तुम और दर्शन नहीं पाओगे। साधना के फल से जिन लोगों की काम आदि मन की मलिनताएँ दूर नहीं हुईं, उनलोगों के लिए मेरा दर्शन-लाभ असम्भव है। तब तुम्हें जो यह एक बार दर्शन दिया उसका कारण है मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति उत्पन्न करना। जो व्यक्ति मेरी कामना करता है उसके मन की सारी कामनाएँ—वासनाएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। थोड़े दिनों की साधुसेवा के फल से मेरे प्रति तुम्हें जो प्रबल अनुराग उत्पन्न हुआ है वह नष्ट नहीं होगा। तुम्हारी शूद्र-देह का नाश होने पर दूसरे जन्म में तुम मेरे पार्षद होगे। सृष्टि या प्रलयकाल में तुम कभी भी मुझे विस्मृत नहीं होओगे।, तदुपरान्त श्रीभगवान के नाम-गुण का कीर्तन करते हुए नारद ने अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

छान्दोग्य उपनिषद् में हम देखते हैं कि नारद ने सनत्कुमार का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे उपदेश देने के लिए प्रार्थना की थी। शूद्र-देह त्यागने के बाद

उन्होंने ब्राह्मण का देह—धारण किया था नहीं, यह कौन कहेगा !

नारद ने चारों वेद, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि चौसठ विद्याओं का अध्ययन किया था। किन्तु, उनके प्राणों में शान्ति नहीं थी। उन्होंने सुना था कि केवल आत्मज्ञानी व्यक्ति ही शोक-रहित होते हैं। किन्तु, उन्हें वह आत्मज्ञान हुआ नहीं। इसीसे वे सनत्कुमार के शरणागत हुए थे। सनत्कुमार ने उनके द्वारा पढ़ी गयी विद्याओं का परिचय लेने के बाद कहा, 'तुम शास्त्रों का अर्थमात्र जानते हो। किन्तु, समस्त विद्याओं का चरम लक्ष्य जो आत्मज्ञान है उसको तुमने प्राप्त नहीं किया। केवल पाण्डित्य के द्वारा कोई शोक-सागर के पार नहीं जा पाता है।' इसके बाद सनत्कुमार नारद को साधना के स्तरों का उपदेश देने लगे। शिष्य को जैसी-जैसी अनुभूति होने लगी, गुरु भी उन्हें वैसी-वैसी उच्चतर स्तर की साधना में अग्रसर कराने लगे। अन्त में उन्हें सिखाया : सत्य का सर्वतोभाव से आश्रय ग्रहण करने पर विज्ञान-लाभ होता है। यह विज्ञान आता है मनन के द्वारा, मनन होता है श्रद्धा से और श्रद्धा की उत्पत्ति होती है निष्ठा से। निष्ठा एकाग्रता की अपेक्षा रखती है और एकाग्रता सुख सापेक्ष है। सुख के सन्धान में ही जीवों की सारी चेष्टाओं का पर्यवसान होता है। किन्तु, अल्प में सुख नहीं है। भूमा में ही सुख है। आत्मा ही यह भूमा है। आत्मा में ही सब कुछ अवस्थित है। आत्मस्वरूप की उपलब्धि के बाद साधक परमानन्द का अधिकारी होता है।

सनत्कुमार से इस प्रकार की उपदेश-प्राप्ति के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि मलिनताओं से रहित होकर नारद अज्ञानान्धकार से सदा के लिए मुक्त हो सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि के फल से धन्य हुए।

स्वयम्भुव मनु के अधिकारकाल के सत्ययुग में भगवान विष्णु धर्म के पुत्र रूप में नर, नारायण, हरि और कृष्ण—इन चार अंशों में अवतीर्ण हुए थे। इनमें नर और नारायण ने बद्रिका आश्रम में अवस्थित होकर सुदीर्घ काल तक तपस्या की। देवर्षि नारद ने एकबार उनलोगों के निकट आकर भागवत धर्म की शिक्षा प्राप्त की। उन लोगों से उपदेश लेकर साधना में प्रवृत्त होने के पहले ही नारद द्वारा दिये गये आत्म परिचय में जो श्रद्धा व्यक्त हुई है वह विशेष रूप से मनन करने के योग्य है। उन्होंने कहा, 'मैं सर्वदा गुरुओं की सेवा करता रहता हूँ; दूसरों की गोपनीय बातों को मैं कभी प्रकट नहीं करता; मैं यत्न पूर्वक वेदाध्ययन और तपस्या में रत रहता हूँ; कभी झूठ नहीं बोलता; अन्याय पूर्वक अर्जित धन से उदरपूर्त्ति, दूसरों के धन का अपहरण, अपवित्र स्थान पर गमन या दूसरों का दान ग्रहण नहीं करता; शत्रु और मित्र सबको मैं समान भाव से देखता हूँ; और, मैं निरन्तर आदि देव की आराधना में रत हूँ। सारे असत् कर्मों से विरत रहने एवम् सर्वदा सत्कर्मों के अनुष्ठान के फलस्वरूप मेरा चित्त शुद्ध हो गया है। अतएव, मेरे लिए नारायण का दर्शन-लाभ करना नितान्त असम्भव नहीं है।" नर और नारायण ऋषियों से उपदेश-ग्रहण करने के बाद उन्होंने श्वेत-द्वीप जाकर नारायण की आराधना की एवं विश्वरूप का दर्शनकर वे कृतार्थ हुए।

... ...

इसके बाद हम विश्व-कल्याण में निरत लोक-गुरु के रूप में देवर्षि नारद का किंचित् परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। नारद शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है—जो परमात्म विषयक ज्ञान का दान करते हैं (नारं परमात्मविषयकं ज्ञानं ददाति इति नारदः)। ईश्वर-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है—यह शिक्षा देते हुए उन्हें हम सर्वदा तत्पर देखेंगे।

प्रजापति ने दक्ष-हर्यश्व नामक पुत्रों को उत्पन्नकर उनलोगों को वंशवृद्धि करने का निर्देश दिया। पिता का आदेश शिरोधार्य कर प्रजावृद्धि के लिए उपयुक्त शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य से वे लोग नारायण सरोवर के तट पर तपस्या में रत हुए। देवर्षि नारद ने वहाँ उपस्थित हो उनलोगों से जीवन के उद्देश्य को समझाने के लिए दस कूट प्रश्न किये। हर्यश्वगण ने इन सारे प्रश्नों के अर्थ पर विचार कर संसार की अनित्यता एवम् ईश्वर-लाभ के अतिरिक्त अन्य सारे उद्देश्यों के लिये किए गये

कार्यों की तुच्छता का अनुभव किया एवं वंश-विस्तार के संकल्प का परित्याग कर मोक्ष-मार्ग के पथिक हुए। नारद के उपदेश से अपने योग्य पुत्रों के संसार-त्याग की बात सुनकर प्रजापति दक्ष विशेष शोकातुर हो उठे। ब्रह्मा ने उन्हें सान्त्वना प्रदान की। उन्होंने पुनः सबलाश्व नामक पुत्रों को जन्म दिया। पिता द्वारा वंश-विस्तार के लिए आदेशित होकर सबलाश्वगण उपयुक्त सामर्थ्य-लाभ के लिए अपने बड़े भाइयों की तरह नारायण सरोवर के तट पर जाकर तपोमग्न हुए। किन्तु सबलाश्वगण के द्वारा भी प्रजावृद्धि संभव नहीं हुई। नारद ने उनलोगों के भी निकट उपस्थित हो, हर्यश्व आदि को जो सारे कूट प्रश्न किये थे, वे ही सारे प्रश्न पूछकर उनलोगों के हृदय में भी वैराग्य उत्पन्न कर दिया। सबलाश्वगण को भी मुक्ति के मार्ग के यात्री जानकर दक्ष दारुण क्रोध में अभिभूत हो गये। उसी समय नारद स्वयं दक्ष के सम्मुख उपस्थित हो गये। उन्हें पाकर दक्ष की क्रोधाग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी। उन्होंने अनेक कठोर वाक्यों से नारद की तीव्र भर्त्सना कर उन्हें अभिशाप दिया, 'चूँकि तुमने मेरे वंश-नाश की व्यवस्था कर मेरा महा अकल्याण किया है इसलिए सारे त्रिभुवन में कहीं भी तुम्हें ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलेगा।' नारद के लिए यह शाप वरदान हुआ; हरि के गुणों का गान सुनाते हुए तीनों लोकों को कृतार्थ करने के लिए वे नित्य भ्रमण में रत हो गये।

राजा उत्तानपाद की सुरुचि और सुनीति नामक दो रानियाँ थीं। सुरुचि राजा की प्रेयसी थी। सुरुचि के गर्भ से उत्तम का एवं सुनीति के गर्भ से ध्रुव का जन्म हुआ। एक दिन राजा उत्तम को गोद में लेकर दुलार कर रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव ने भी पिता की गोद में जाने की चेष्टा की। यह देखकर गर्विता रानी सुरुचि ने कहा, 'राजा की गोद में बैठने का सौभाग्य तुम्हें नहीं है, तुमने तो मेरे गर्भ से जन्म लिया नहीं है! राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा हो तो श्रीभगवान की आराधना कर मेरे गर्भ से जन्म लेने की चेष्टा करो।'

विमाता के वचन से विषम आघात पाकर ध्रुव रोते-रोते माता सुनीति के निकट उपस्थित हुए। किन्तु, सुनीति का भी रोदन मात्र सम्बल था। उन्होंने बालक को सान्त्वना देते हुए कहा 'तुम्हारी विमाता ने ठीक कहा है। राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो तो श्रीहरि के चरण-कमल की आराधना करो।' माता के वचन को शिरोधार्य कर ध्रुव ने सबसे छिपकर राजप्रासाद से निकल राज्य प्राप्ति के लिए तपस्या के उद्देश्य से वन को प्रस्थान किया। वहाँ नारद से उनकी भेंट हुई। नारद ने पहले बालक को समझा-बुझाकर घर लौटाने की चेष्टा की। किन्तु बालक के कठोर हठ को देख प्रीतिपूर्ण होकर उन्हें यमुना-तट पर अवस्थित मधुवन में जा श्रीहरि की आराधना में मन लगाने का उपदेश दिया। देवर्षि से प्राप्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस महामंत्र का जप एवं उनके द्वारा प्रदत्त साधना-पद्धति का अनुसरण कर ध्रुव शीघ्र ही नारायण के दर्शन-लाभ से कृतार्थ हुए। किन्तु नारायण ने जब उन्हें वर देना चाहा उस समय उनके हृदय से राज्य-भोग की वासना मिट गयी थी। उन्होंने कहा, 'कोई यदि काँच की खोज में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मणि पा जाय तो क्या वह मणि को फेंककर काँच की खोज करने लगेगा? श्रीभगवान की कृपा से उन्हें राज्य-प्राप्ति एवं भोग के अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हुई।

देवों और दैत्यों के बीच दीर्घकाल से विरोध चल रहा है। देवताओं की पराजय और ब्रह्मा से वरदान पाने के उद्देश्य से दैत्यराज हिरण्यकशिपु मन्दराचल पर तपस्या-निरत थे। यह सुयोग पाकर देवराज इन्द्र ने दैत्य-पुरी पर आक्रमण कर उसे लूट लिया तथा हिरण्यकशिपु की रानी को बाँधकर वे ले चले। राह में नारद से इन्द्र का साक्षात्कार हुआ। देवर्षि ने उस निरपराध सती गर्भ-वती परायी स्त्री को बन्धन मुक्त करने का इन्द्र से अनुरोध किया। देवराज ने उनके वचन को शिरोधार्यकर दैत्यराज की रानी को मुक्त कर दिया। तब नारद ने उन्हें अपने आश्रम में ले जाकर परम यत्नपूर्वक रख दिया। दयालु ऋषि रानी और उनकी गर्भस्थ सन्तान के कल्याण के लिए रानी को धर्मोपदेश देने लगे। यथा समय रानी ने प्रह्लाद को जन्म दिया। नारद के अनुग्रह से प्रह्लाद ने ज्ञानवान और भक्तिमान होकर जन्म-ग्रहण किया।

महर्षि वेद व्यास ने समस्त लोगों की कल्याण-कामना से सनातन वेद को चार भागों में विभक्त किया था, ब्रह्म-सूत्र का प्रणयण किया था और एक लाख श्लोकों से युक्त महाभारत की रचना की थी। तथापि उनके मन में शान्ति नहीं थी। हृदय में किस वस्तु का अभाव रहता है उसे वे भाँप नहीं पाते हैं। सरस्वती नदी के तट पर चिन्ताकुल चित्त से बैठे हैं। उसी समय देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हुए। कुशल-प्रश्न के बाद व्यासदेव ने अपनी मनोवेदना के कारण के निर्णय में अपनी अक्षमता की बात देवर्षि को सुनायी। नारद ने उनकी शान्ति-प्राप्ति के उपाय स्वरूप श्रीभगवान की लीला और गुण का विस्तृत वर्णन कर एक ग्रन्थ की रचना करने का उपदेश दिया। इस प्रकार नारद के उपदेश से भक्तों के परमप्रिय श्रीमद्-भागवत् की रचना हुई।

माता कुन्ती के इच्छानुसार युधिष्ठिर आदि पंच पाण्डवों ने द्रौपदी से विवाह किया था। विवाहोपरान्त धृतराष्ट्र ने उनलोगों को हस्तिनापुर वापस लाकर आधा राज्य प्रदान किया था। इसके बाद पाण्डवगणों ने इन्द्रप्रस्थ की नवनिर्मित राजधानी में सुख पूर्वक राज्य-पालन आरम्भ किया। एक दिन वे पाँचों भाई राजसभा में आये। उसी समय स्वेच्छया विचरणशील नारद वहाँ उपस्थित हुए। पाण्डवों ने उन्हें यथोचित समादर कर सभा में बैठाया। कुशल प्रश्नों के बाद नारद ने उनलोगों से कहा, 'द्रौपदी तुम पाँचों भाइयों की धर्मपत्नी है। उसको लेकर तुमलोगों में जिससे कोई विरोध किसी दिन नहीं हो ऐसे किसी एक नियम का अवलम्बन कर तुम सब चलो।" इस प्रसंग में उन्होंने पाण्डवों को सुन्द और उपसुन्द दैत्यों की कहानी सुनायी। उन लोगों का भ्रातृ-प्रेम गंभीर था। एक ही राज्य के अधिकारी दोनों भाई सर्वदा एक ही घर में रहते, एक ही शय्या पर सोते, एक ही आसन पर बैठते एवं एक ही आहार का एक ही पात्र में भोजन करते। किन्तु वे दोनों तिलोत्तमा के रूप पर मुग्ध होकर उसे पाने के लिए आपस में ही युद्ध कर दोनों ही भाई निहत हो गये।

नारद के उपदेश की युक्तिमत्ता को ग्रहण कर पंच पाण्डवों ने उनके सामने इस प्रकार का नियम बनाया,— द्रौपदी के साथ अकेले बैठे हुए किसी भाई को यदि कोई अन्य भाई देखेंगे तब जो देखेंगे उन्हें ब्रह्मचर्य का अवलम्बन करते हुए बारह वर्षों तक वनवास करना होगा। इस नियम का पालन करते हुए धर्मचारिणी द्रौपदी के साथ वे लोग सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

महाराज युधिष्ठिर मय नामक दानव द्वारा निर्मित नरलोक में अतुलनीय राजसभा में समासीन थे। सभा निर्माण में अभिव्यंजित शिल्प की निपुणता देखकर सभी मुग्ध थे। इस रमणीय सभाभवन ने धीर, स्थिर युधिष्ठिर के अन्तःकरण में भी, लगता है कि कुछ गौरव-बोध का उद्रेक कर दिया। देवर्षि नारद एक दिन उसी सभा भवन में उपस्थित हुए। युधिष्ठिर ने उनकी अतिशय भक्तिपूर्वक अभ्यर्थना की। बातों के प्रसंग में राजा ने देवर्षि को उनके द्वारा देखी गयी अन्यान्य राजसभाओं का वर्णन करने को कहा। लगता है, युधिष्ठिर का अभिप्राय था कि नारद मयनिर्मित राजसभा की विशेष प्रशंसा करेंगे। किन्तु उन्होंने राजा के समक्ष ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के सभागृहों का जैसा वर्णन किया उससे युधिष्ठिर की राजसभा तुच्छ है— ऐसा सबको प्रतीत हुआ।

... .

कलहप्रिय के रूप में नारद की अपकीर्ति है। विरोध बढ़ाकर, या किसी के लिए असुविधा की सृष्टिकर वे आनन्द का उपभोग करते हैं, इस रूप में अनेक कथाएँ पुराणादि में पायी जाती हैं। उनके नाम का भी एक अन्य व्युत्पत्तिगत अर्थ है—कलह-सृष्टि के द्वारा जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करते हैं (नारं नरसमूहं कलहेन यति खण्डयति इति नारदः)। किन्तु, उनके द्वारा सर्जित इन सब विरोधमूलक घटनाओं का विश्लेषण करने पर उनकी चेष्टा का गम्भीरतर उद्देश्य देखने में आता है। स्रष्टा की विश्वलीला के सहायक के रूप में वे त्रिभुवन का विचरण करने निकलते हैं। सृष्टि का अर्थ ही हुआ वैचित्र्य—सत् और असत् का द्वन्द्व। इन द्वन्द्वों के बीच, परिणाम में सत् की विजय दिखाना ही उनकी सारी चेष्टाओं का उद्देश्य है, ऐसा प्रतीत होता है। कई बार वे भली भाँति विरोध उत्पन्न कर देते हैं, असत् की समाप्ति

के लिए, विनाश के लिए। श्री रामकृष्णदेव कहते थे, "पील्हा बड़ा होने पर तभी उसके ऊपर मनसा वृक्ष का दूध देना होता है। .....फोड़ा के पकने पर ही डाक्टर नस्तर लगाता है।" समय नहीं आने तक कष्ट सहते जाना होता है—परिणाम में कल्याण के लिए।

समुद्रमंथन के परिणामस्वरूप लाभ के सारे अंश देवताओं के हिस्से पड़ा था। तथापि देवासुर में भयंकर युद्ध चलता रहा—देवताओं ने असंख्य असुरों का वध किया। इसी अवस्था में देवर्षि नारद ने समरक्षेत्र में उपस्थित होकर देवताओं को सम्बोधित कर कहा, 'आपलोगों ने तो अमृत पाया है, लक्ष्मी देवी को प्राप्त किया है। तब और किस वस्तु के लिए युद्ध ?" उनके उपदेश से देवगण असुर विनाश के कर्म से विरत हुए।

वसुदेव के साथ देवकी के विवाह के बाद कंस ने दैववाणी सुनी थी, देवकी के गर्भ से उत्पन्न आठवीं सन्तान के हाथों तुम्हारी मृत्यु होगी। मृत्यु से बचने के लिए उन्होने बहन और बहनोई को कारागार में डाल दिया। नियम बना कि जन्म लेने के उपरान्त देवकी की प्रत्येक सन्तान का कंस बध करेंगे। प्रथम सन्तान को लाकर वसुदेव ने जब कंस के हाथ में दिया तब कंस ने कहा, 'देवकी के आठवें गर्भ की सन्तान के हाथों मेरी मृत्यु निर्धारित है। अतः इस शिशु को तुम ले जाओ।' इसी समय नारद ने वहाँ उपस्थित होकर कहा, 'अरे राजा कंस, तुम यह क्या करते हो ? व्रजपुरी के सारे गोप-गोपियों और वृष्णिवंश के वसुदेव आदि सबका देवांश से जन्म हुआ है। तुम्हारी बहन देवकी और तुम्हारे अनुगत आत्मीयजन, बन्धु-बान्धव ये सभी देवता हैं—ये सभी तुम्हारे शत्रु हैं।' इस बात को सुनने के फलस्वरूप कंस का अत्याचार चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। उन्होंने अपने अनुचरों को व्रजपुरी और मधुपुरी के समस्त शिशुओं की हत्या का आदेश दिया। देवकी और वसुदेव कारागार में शृंखलाबद्ध हुए। संसार का भार समाप्त करने के लिए नारद ने इस काण्ड को बढ़ाया।

नारद भक्ति-सूत्र, नारद संहिता, नारदीय शिक्षा एवं संगीत मकरन्द—ये चार पुस्तकें देवर्षि नारद रचित कही जाती हैं। ये सब ग्रंथ उनके द्वारा रचित हैं या नहीं इसके निर्णय का कोई उपाय नहीं है। 'नारद संहिता प्रसिद्ध स्मृतिशास्त्र है।

वैष्णवों का विशेष प्रिय ग्रंथ 'नारद पांचरात्र' के साथ देवर्षि का नाम जुड़ा है। किन्तु, वे स्वयं इस ग्रंथ के रचयिता नहीं हैं। इस ग्रंथ में कथित विषय उन्होंने भगवान शंकर से उपदेशरूप में प्राप्त किया था।

नारद-परिव्राजक-उपनिषद् एवं नारदीय-पुराण के साथ उनका नाम विशेषरूप से जुड़ा है। इनके अतिरिक्त महाभारत एवं श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के कई स्थलों पर उन्हें अशेष सम्मानित उपदेशक के आसन पर देखा जाता है।

... ...

अन्त में भगवान श्रीकृष्ण ने राजा उग्रसेन से नारद की जिन अशेष गुणावलियों का वर्णन किया है उनका संक्षेप में वर्णन करके इस विवेचन का उपसंहार करूँगा।

श्रीकृष्ण ने कहा, "नारद शास्त्रज्ञ हैं, उनका चरित्र अत्यन्त महान् है, तथापि उनको अहंकार नहीं है। वे तेजस्वी, बुद्धिमान, नीतिविद्, विनयी और तपःपरायण हैं। कार्य में अनिच्छा, क्रोध, चपलता, भय, दीर्घसूत्रता आदि दोषों से वे मुक्त हैं। काम या लोभ के वशीभूत हो वे कभी भी अपने वचन को अन्यथा नहीं करते। वे आत्म-तत्वज्ञ, क्षमाशील, शान्त, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं। वे ईश्वर में दृढ़ भक्ति सम्पन्न, चित्त की हीनता से मुक्त, अहिंसक और मोह रहित हैं। वे सुशील, लज्जाशील एवं मधुरभाषी हैं। वे निष्पाप, ईर्ष्यारहित और दूसरों की कल्याण-साधना में निरत रहते हैं। दूसरों का अनिष्ट देखकर वे प्रसन्न नहीं होते। शास्त्र ज्ञान एवं पूर्व की जानकारी की सहायता से वे सारे कार्य करते हैं। वे तितिक्षा परायण हैं। किसी की वे अवज्ञा नहीं करते। समबुद्धि सम्पन्न होने के कारण उनका न कोई विशेष प्रिय है, न कोई विशेष अप्रिय। वे महापण्डित हैं, वाग्मी और आलस्यहीन हैं, किन्तु हठी या जिद्दी नहीं हैं। उन्हें क्रोध या लोभ नहीं है। सम्मान पाने के उद्देश्य से वे साधना में रत नहीं होते। अपनी प्रशंसा वे कभी नहीं करते। वे

(शेष पृष्ठ ३५ पर)

महायोगी अरविन्द

—सुरेश कुमार प्रशांत

सम्पूर्ण अर्वाचीन चिन्तन का केन्द्र हो गया है मानव —सामान्य मानव। उसकी स्थिति एवं क्रियाशीलता ही आज किसी राष्ट्र की महानता एवं समृद्धि की कसौटी हो गयी है। भारतवर्ष जैसे राष्ट्र हेतु तो चतुर्दिक चुनौतियाँ हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र नानाविध विचारों के संघर्षण-काल से गुजर रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने राष्ट्र-जीवन से संबद्ध विभिन्न विषयों, जागतिक विचार-धाराओं एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक आदर्श प्रस्तुत करें। भारतीय ऋषि-परम्परा की उज्ज्वल कड़ी के रूप में जिन महापुरुषों ने बीसवीं शती के चिन्तन को प्रभावित एवं आन्दोलित कर हर क्षेत्र में एक व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत किया उनमें अरविन्द का स्थान मूर्धन्य है।

अरविन्द के विचार इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि विचारक एवं दार्शनिक होने के साथ ही वे समाज-सुधारक, साहित्यकार एवं राजनेता भी थे। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन, भाषा, संस्कृति एवं साहित्य के साथ ही पौर्वात्य दर्शन, भाषा, संस्कृति एवं साहित्य का भी गंभीर अध्ययन किया था। फलतः, उनका सम्पूर्ण चिन्तन संतुलित, मौलिक एवं परिष्कृत है। मानव-जीवन से संबद्ध हर समस्या के समाधान हेतु उनके सुझाव मूलतः मनोवैज्ञानिक धरातल पर आधृत हैं तथा वे प्रकृति-निर्मित सहज-विकास-मार्ग की तरफ संकेत करते हैं।

अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ ई० को श्रीमती स्वर्णलता देवी के गर्भ से कलकत्ते में हुआ था। इनके पिता श्रीकृष्णधन घोष एक प्रख्यात सर्जन थे। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के वे प्रशंसक थे और अपने तीनों पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था उन्होंने यूरोपीय आदर्शों पर ही की। अरविन्द की प्रारंभिक शिक्षा निजी शिक्षकों द्वारा हुई। लन्दन के सेंटपाल विद्यालय में इन्होंने ग्रीक तथा लैटिन की उच्च शिक्षा प्राप्त की। स्पैनिश, इंगलिश, फ्रेंच, जर्मन एवं इटालियन भाषाओं पर भी इनका अधिकार था।

सन् १८९० ई० में केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में पढ़ते समय ही इन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा दे दी तथा उत्तीर्ण छात्रों में इन्हें ग्यारहवाँ स्थान मिला। पर, वे अंग्रेजी सरकार का अफसर बनना नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि परिवार वाले यह नौकरी छोड़ने पर नाराज होंगे, अतः जानबूझकर ये घुड़सवारी की परीक्षा में असफल हो गये। देश के सौभाग्य से उसका एक महान् पुत्र सरकारी मशीन का पुर्जा होते-होते बच गया।

क्रमशः, डा० कृष्णधन घोष का मोह-भंग होता गया। 'बंगाली' नामक पत्र से अंग्रेजों की आलोचना-संबंधी विवरण काट-काट कर वे इंगलैंड भेजते। अनायास ही अरविन्द का ध्यान देश की राजनीति की तरफ खिंच गया। यद्यपि, उनके पिता सोच भी नहीं सकते थे कि उनका पुत्र देश का एक महान् नेता होने जा रहा है।

सन् १८९१ ई० में कैम्ब्रिज में "इण्डियन मजलिस" नाम की एक सभा गठित हुई, जिसका उद्देश्य था—अंग्रेजी साम्राज्यवाद की आलोचना करना। अरविन्द इसके सदस्य एवं सचिव भी हुए। अपने क्रांतिकारी भाषणों से उन्होंने सबको प्रभावित किया।

कुछ अधिक उत्साही एवं ओजस्वी युवकों ने "द लोटस एन्ड डैगर" नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्था गठित की। अरविन्द अपने भाई वारीन्द्र घोष सहित उसके भी

सदस्य हुए। यद्यपि ये संस्थाएँ बहुत काम नहीं कर सकीं, मगर आजादी की भावना जगाने एवं विद्रोह का माता-वरण बनाने में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण अवश्य रही। इनके अतिरिक्त, मेजिनी के जीवन- चरित, आयरिश स्वातंत्र्य-आंदोलन एवं अन्य यूरोपियन स्वातंत्र्य-आन्दोलनों ने भी अरबिन्द के मानस स्थित स्वातंत्र्य-स्फुलिंग को हवा दी।

सन १८९३ ई० को बड़ौदा के महाराज सयाजीराव जब इंगलैंड के दौड़े पर गये, उन्होंने अरविन्द के बारे में सुना। अपने राज्य की सेवा हेतु उन्होंने अरविन्द को आमंत्रण दिया तथा फरवरी सन् १८९३ ई० में ठीक चौदह वर्षों बाद अरविन्द स्वदेश लौटे, मानो मर्यादा पुरूषोत्तम बनवास झेलकर अयोध्या लौटे हों।

बड़ौदा राज्य में उन्होंने तेरह वर्षों तक विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर सेवा की। कुछ काल तक बड़ौदा कॉलेज में अंग्रेजी एवं फ्रेंच के प्रोफेसर भी रहे। इस दौरान उन्होंने भारतीय इतिहास, धर्म एवं संस्कृति का गहरा अध्ययन किया। बंगला भाषा के अध्ययन के क्रम में बंकिमचन्द्र एवं माइकेल मधुसूदन दत्त ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। अरविन्द के विचारोत्तेजक लेखों ने—जो सन् १८९३ ई० से ही "इन्दुप्रकाश" में छपते थे,—बुद्धिजीवियों को काफी प्रभावित किया था। इन निबंधों में एक तरफ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना होती थी, तो दूसरी तरफ राजनीति एवं स्वतंत्रता—संबंधित उनके अपने गंभीर विचार एवं ठोस कार्यक्रम भी प्रकाशित होते थे।

इंगलैंड-प्रवास के दौरान उन्होंने गुप्त-समितियों के सम्पर्क में बहुत कुछ अनुभव किया था। उसी तरह की समितियों के गठन हेतु अरविन्द ने जतीन बैनर्जी को बड़ौदा से कलकत्ता भेजा। बारीन्द्रघोष एवं जतीन बैनर्जी ने सुदूर गांवों तक संगठन बनाये। दक्षिण में इसी समय तिलक महोदय भी गांव-गांव संगठन बनवा रहे थे। यद्यपि अरविन्द की इच्छा के अनुसार देश भर में संगठन नहीं बन सके, पर देशके समस्त बुद्धिजीवियों ने उनके विचारों को ग्रहण किया। बंगाल में उन्होंने एक राजनीतिक समिति की भी स्थापना की जिसके सदस्य थे—सिस्टर निवेदिता, सी० आर० दास, पी० मित्र, जतीन बैनर्जी एवं सुरेन्द्रनाथ ठाकुर।

अब समय आ गया था कि वे सक्रिय राजनीति में आ जायँ, अतः बंग—भंग आन्दोलन (सन् १९०५) में वे शामिल हुए। बड़ौदा राज्य से उनका संबंध टूटता गया। तेरह वर्षों तक महाराजा की सेवा के बाद वे मुक्त हो गये। कलकत्ता, बम्बई, पूना, नासिक, अमरावती एवं बड़ौदा में इन्होंने घूम-घूम कर राजनीतिक भाषण किये। "युगान्तर" (सम्पादक—जतीन बनर्जी) एवं "वन्दे—मातरम्" (सम्पादक—विपिन चन्द्र पाल) के अतिरिक्त "कर्मयोगिन्" में भी इनके विचारोत्तेजक निबंध एवं काव्य प्रकाशित होते रहे। सन् १९०९ ई० में इन्होंने स्वयं "कर्मयोगिन्" का सम्पादन प्रारंभ किया था। इन निबंधों में व्यक्त विचारों का सर्वत्र स्वागत हुआ तथा ये देश के प्रखर नेता माने जाने लगे। सन् १९०६ ई० में हुए सूरत कांग्रेस अधिवेशन में गरम दल की विजय वस्तुतः अरविन्द की नीतियों की ही विजय थी।

इस समय बंगाल में हिंसक गतिविधियाँ बढ़ गयी थीं। ब्रह्म बांधव उपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि क्रांतिकारियों को राजद्रोह के अभियोग में जेल में डाल दिया गया। जेल में ही ब्रह्मबांधव उपाध्याय की मृत्यु हो गयी। प्रतिशोधस्वरूप, मुजफ्फरपुर के तत्कालीन जिला-जज मि० किंग्सफोर्ड की कार पर बम फेंका गया। संयोग से, उस कार में जिला-जज नहीं, मि० प्रिंगल की पत्नी एवं कन्या थीं, जिनकी मृत्यु हो गयी। अन्य युवकों के अतिरिक्त अरविन्द एवं उनके भाई भी गिरफ्तार हुए। सब को अलीपुर जेल में डाल दिया गया। मुकदमा चला। अरविन्द ने जमानत पर छूटने से इनकार किया। सी० आर० दास की पैरवी से वे १३ अप्रील १९०९ को निर्दोष घोषित होकर रिहा हुए। जेल से मुक्त होने पर पुनः "कर्मयोगिन" का प्रकाशन प्रारंभ हुआ।

अध्यात्म की ओर—

अरविन्द को सर्वप्रथम विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव सन् १८९३ ई० में हुआ था, जब वे चौदह वर्ष के प्रवास

के बाद स्वदेश की पृथ्वी पर उतरे थे। एक असीम शांति के अवतरण का अनुभव था यह।

सन् १९०१ ई० में इन्हें दूसरा आध्यात्मिक अनुभव हुआ, जिसमें इन्हे आभास हुआ कि किसी दिव्य शक्ति ने उनके शरीर से निकल कर कार-दुर्घटना से इनकी रक्षा की।

सन् १९०३ ई० में स्वामी ब्रह्मानन्द नामक एक साधक से ये मिले थे। सन् १९०५ ई० में पत्नी को एक पत्र में इन्होंने लिखा—"यदि ईश्वर है तो उससे आध्यात्मिक सम्पर्क बनाने का एक मार्ग अवश्य होना चाहिये।"

सन् १९०७ ई० में मराठी योगी विष्णु भास्कर लेले से ये मिले। मात्र तीन दिन तक उनके साथ साधना हुई तथा अरविन्द को महत्त्वपूर्ण अनुभव हुए। सन् १९०८ की १९ जनवरी को बम्बई नेशनल यूनियन की एक विशाल सभा में भाषण देते समय उन्हें लगा कि किसी दिव्य शक्ति ने भाषण करने की उन्हें प्रेरणा दी।

किसी आंतरिक आदेश के आधार पर वे चन्द्रनगर होते पाण्डीचेरी पहुँचे। सक्रिय राजनीति से वे अब पूर्णतः अलग हो गये। सी० आर० दास लाजपत राय एवं देवदास गांधी के आग्रह पर भी वे वापस राजनीति में नहीं आये। उनका विश्वास था कि देश की उन्नति के लिये राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा "एक विश्वशक्ति की खोज" का कार्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

पाण्डीचेरी आने के बाद उन्होंने किसी तरह का राजनीतिक लेख नहीं लिखा। सन् १९१४ ई० में "आर्य" नामक एक आध्यात्मिक दार्शनिक पत्र का इन्होंने प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसमें इनके सभी महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। सन् १९२१ ई० में "आर्य" का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

सन् १९२६ ई० में पाण्डीचेरी में "अरविन्द आश्रम" की स्थापना हुई। अनेक साधक एकत्र हो गये। यहीं निरन्तर चौबीस वर्षों तक उन्होंने एक महान् कर्मयोगी एवं आध्यात्मिक नेता का जीवन बिताया। विश्व के हर कोने से आये साधकों के पत्रों का वे नित्य सात घण्टे तक उत्तर लिखते। इन पत्रों में योग, धर्म, रजनीति, कला, दर्शन, साहित्य एवं नीति सम्बन्धी उनके विचार प्रकट हुए हैं जो आगे चलकर पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। आश्रम "सर्वांग विकास" एवं "एक अतिमानसी शक्ति को पृथ्वी पर उतार लाने" का प्रयोगशाला बन गया था। मानव चक्र, दिव्य-जीवन, मानव एकता का आदर्श, सावित्री, गीता-प्रबन्ध, योग-समन्वय एवं ईशोप निषद आदि उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में प्रचारित एवं समादृत हुए।

महानिर्वाण—

पाँच दिसम्बर सन् १९५० ई० को रात्रि के एक बजकर छब्बीस मिनट पर इस योगी ने महासमाधि ले ली। इनके शरीर में पूरे १११ घण्टों तक किसी तरह की विकृति नहीं आयी।

२४ अप्रैल, सन् १९५१ ई० को समुद्र-तट पर डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के सभापतित्व में अरविन्द के स्मृति-स्वरूप एक अधिवेशन हुआ तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। आज भी यह आश्रम विश्व भर के योग-साधकों का एक विशाल केन्द्र है। विश्व में शताधिक "अरविन्द अध्ययन केन्द्र" चल रहे हैं तथा महर्षि के "अतिमानस" का प्रभाव दिग्दिगंत में प्रकीर्ण हो रहा है।

संदेश—

इस महायोगी ने एक बार पुनः विश्व को भारतीय संस्कृति से परिचित कराया। अरविन्द का संदेश "सर्वांग जीवन" का संदेश है। 'सर्वांग जीवन" से उनका तात्पर्य है—ऐसा जीवन जिसमें शरीर, मन एवं प्राण, सभी का समुचित विकास हो। सभी सन्तुष्ट रहें। ऐसा मात्र तभी सम्भव है जब हम आध्यात्मिक जीवन जियें। मन का द्वन्द्व ही समस्त वैयक्तिक—सामाजिक समस्याओं का मूल है। यदि मानव मस्तिष्क के स्तर से आध्यात्मिक स्तर तक आरोहण करे तो सारी समस्यायें सुलझ जायेंगी। अन्य कोई उपाय बहुत कम सफल होगें।

वे मानते हैं कि निकृष्ट एवं घिनौना मानकर शरीर की उपेक्षा करना अनुचित है। दिव्य जीवन हेतु दिव्य शरीर आवश्यक है। शरीर की पशुता, जड़ता, प्रमाद एवं

उसके दुराग्रह को सतत अभ्यास के द्वारा दूर करके भौतिक चेतना को आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित करना होगा। यही कारण है कि पाण्डीचेरी में आश्रम के साधक शरीर के विकास पर ज्यादा जोर देते हैं। शरीर को निम्न तत्त्व मान उसकी अवहेलना करने वाला उच्च तत्त्व भी निम्न तत्त्व की ही तरह एकांगी एवं निष्प्राण हो जायेगा। हठवादी संन्यासी एवं भोगलिप्त गृहस्थ ही "अतिवादी" हैं। 'सर्वांग जीवन" भोग एवं संन्यास का समन्वय है।

अरविन्द फ्रायडियन "यौन वासनाओं की क्रीड़ा" के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी जीवन के प्रत्येक कार्य को यौन-सिद्धान्त से समझने को तैयार नहीं। वे इन्द्रिय-दमन के दोषों के प्रति भी जागरुक हैं तथा 'मुक्त-अभिव्यक्ति" के दोषों के प्रति भी सतर्क हैं। वे मानते हैं कि मनो विश्लेपक लोग यह भूल जाते हैं कि "मुक्त-अभिव्यक्ति' से तो निम्न वासनाएँ और भी बलवान होंगी। मनो-विश्लेषक मानव को पशु मान कर चलते हैं तथा धार्मिक लोग उसे देवता मान लेते हैं। अरविन्द मानव को एक "विकासशील प्राणी" मानते हैं जिसका लक्ष्य है—सतत विकास कर देवत्व को उपलब्ध करना। दमन एवं मुक्त-अभिव्यक्ति के विरद्ध वे "आध्यात्मिक रूपान्तरण" की आवश्यकता महसूस करते हैं। मानस का विकास उच्चतर मानस, ज्योतिर्मय मानस, सम्बोधिमय मानस, अधिमानस एवं तब अतिमानस तक होगा। जो कुछ पाने में मानस असफल है, अतिमानस के लिए वह अतिसुलभ है।

अरविन्द न तो घोर समाजवादी हैं, न एकान्तिक व्यक्ति-वादी। मानव समाज-यंत्र का पुर्जा मात्र बनकर यदि रह जाय तो यह खतरनाक है क्योंकि वही तो उसका सुधारक एवं विकास-कर्ता है। दूसरी तरफ व्यक्ति के लिए समाज भी आवश्यक है। समाज से बाहर रह व्यक्ति बहुत से अवगुणों का शिकार हो जाता है।

आर्थिक क्षेत्र में अरविन्द पूँजीवाद के घोर विरोधी हैं तथा मार्क्स की भाँति मानते हैं कि कालचक्र पूँजीवाद को धराशायी कर देगा। पर, चूँकि भौतिक-स्तर से ऊपर उठकर प्राण-स्तर एवं मानस-स्तर की समस्याओं क साम्यवाद कोई समाधान नहीं दे पाता, यह उसकी एकांगिता है। वर्ग-संघर्ष पर आधृत साम्यवाद मानव के आध्यात्मिक विकास में बाधक है तथा उसका भी आध्यात्मिक रूपान्तरण आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में अरविन्द एक विश्व-राष्ट्र के प्रबल समर्थक हैं। यह विश्व राष्ट्र, विश्व के समस्त राज्यों का संघ हो, इसमें सबों की विशिष्टताओं का स्थान रहेगा, तथा जाति, देश, संस्कृति एवं आर्थिक—सामाजिक सुविधाओं को आधार बना एक स्वतंत्र संगठन होगा। बलवान राष्ट्रों का इसमें वर्चस्व नहीं रहेगा तथा सबको समानाधिकार होंगे। सैन्य, प्रशासन, विधान, न्याय एवं समस्त आर्थिक—सामाजिक व्यवस्थाओं पर विश्व-सरकार का नियन्त्रण होगा। जबतक मानव-स्वभाव नहीं बदलता, इसे एक सबल सेना भी रहेगी।

अरविन्द इसी स्तर पर नहीं रुकते। वे मानते हैं कि सभी व्यवस्थाएँ कालान्तर में कठोर एवं गतिहीन हो जाती हैं तथा व्यक्ति इनके प्रति विद्रोह करने लगता है। इसलिये स्थायी शान्ति हेतु एक "आंतरिक क्रान्ति" की आवश्यकता है। मानवता का धर्म है—आध्यात्मिक बनना। आध्यात्मिक रूपान्तरण ही मानव को भावी संकटों से बचा सकता है। प्राणिमात्र के अन्तः स्थित उस "अतिमानस" का अनुभव करना ही आध्यात्मिक रूपान्तरण की कसौटी है।

इस तरह, हम देखते हैं कि अरविन्द कहीं भी असन्तुलित नहीं हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने पाठ्यक्रम, विधि, आदर्श, सिद्धान्त एवं माध्यमों पर अपने स्वस्थ एवं मौलिक विचार व्यक्त किये हैं जिसमें "सर्वांग-शिक्षा" एवं सच्ची राष्ट्रीयता का सन्देश है। निस्संदेह, रवीन्द्र-नाथ, दयानन्द, एवं विवेकानन्द का सम्पूर्ण चिन्तन एवं दर्शन अरविन्द में एकाकार हो गये हैं।

□

श्रीरामकृष्ण आन्दोलन की विशिष्टताएँ (२)

स्वामी सोमेश्वरानन्द

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य और कार्य

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना के साथ-ही-साथ इसके उद्देश्यों और कार्यों की रूपरेखा स्थूल रूप से निर्धारित कर दी थी। विवेकानन्द साहित्य (बंगला में स्वामीजीर वाणी ओ रचना के प्रथम खंड, पृष्ठ ५६-७) में देखा जाता है—"उद्देश्य : मानव-कल्याण के लिए श्रीरामकृष्ण ने जिन तत्वों की व्याख्या की थी एवं कार्य-रूप में जो उनके जीवन में प्रतिपादित हुए थे, उनके प्रचार एवं मनुष्य की दैहिक, मानसिक तथा पारमार्थिक उन्नति करने के लिए जहाँ तक वे तत्व प्रयुक्त हो पाएँ, उक्त विषय में सहायता करना इस 'प्रचार' (मिशन) का उद्देश्य होगा।

"व्रत : संसार के सभी धर्मों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र मानकर सभी धर्मावलम्बियों के बीच आत्मीयता की स्थापना के लिए श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य की अवतारणा की थी; उसका परिचालन ही इस प्रचार (मिशन) का व्रत है।

"कार्य प्रणाली : मनुष्य की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान करने के निमित्त लोगों को शिक्षित करना, उद्योग तथा श्रमोपजीविका का उत्साह-वर्द्धन एवं श्रीरामकृष्ण के जीवन में वेदान्त और अन्यान्य धर्मभाव जिस प्रकार निरूपित हुए थे, उनका जन-समाज में प्रवर्त्तन करना।"

रामकृष्ण मिशन की स्थापना के पहले ही श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यगणों ने भारत के विभिन्न स्थानों एवं पश्चिमी देशों में कार्य शुरू कर दिये थे। मिशन की विधिपूर्वक स्थापना के बाद उन कार्यों की गति बढ़ी एवं प्रायः उसके साथ-साथ ही लोगों की दृष्टि को मिशन आकर्षित करने लगा। यहाँ भारत की कुछ पत्रिकाओं का मन्तव्य देने से ही यह समझा जा सकेगा कि इस नवीन आन्दोलन ने किस प्रकार जन-जीवन को प्रभावित किया था। इंडियन सोशल रिफॉर्मर पत्रिका ने ९-१०-१८९८ ई० को लिखा—"Service of humanity in the shape of giving alms and building choultries is also familiar to the Hindu. But the service which Swami Vivekananda appears to have in view is not the charity bestowed on individual men and women but the service of large masses of humanity, or of humanity in general" अर्थात् 'भिक्षा-दान और सरायों के निर्माण के द्वारा मानवता की सेवा करने से भी हिन्दू परिचित हैं। किन्तु, लगता है कि स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में सेवा का तात्पर्य व्यक्तिगत रूप से पुरुषों और स्त्रियों को दान देना नहीं बल्कि मानबता के विशाल समुदाय या सामान्य रूप से पूरी मानवता की सेवा करना है।" परम आश्चर्य के साथ रिफॉर्मर ने लिखा था : "रामकृष्ण मिशन के सेवा-कार्य का सबसे उल्लेख योग्य तथ्य है इसका असाम्प्रदायिक चरित्र। इसके किशनगढ़ अनाथ-आश्रम में रहते हैं बालाई, माठ, गूजर, माली, मुसलमान, चमार, रंगरेज, बढ़ई एवं ब्राह्मण बच्चे।" (१५-१२-१९०१ ई०) बाल गंगाधर तिलक ने अपनी मराठा पत्रिका के सम्पादकीय में लिखा : 'रामकृष्ण मिशन के कार्यों के द्वारा प्रमाणित हुआ कि बंगाली केवल वचनवीर नहीं होते। वेदान्त यद्यपि प्रथम दृष्टि में जीवन-

विमुख प्रतीत होता है, किन्तु उसके बीच ही है श्रेष्ठ कर्मतत्त्व। .....जिनके गुरु ने अपने माथे के लम्बे बालों से मेहतर के पाखाने को पोंछ कर साफ किया था, वे किसी शहर में, वहाँ की नगरपालिका से अच्छी तरह शहर की सफाई तथा प्लेग-निवारण के कार्य में आत्म-उद्योग करेंगे, इसमें आश्चर्य क्या है!" (३०-४-१८९९) महाराष्ट्र की नेटिव ओपिनियन पत्रिका ने १२-७-१९०० ई० को अपना मन्तव्य व्यक्त किया—'The Ramakrishana Mission working in the most practical manner for the alleviation of human misery, typifies a fusion of the eastern and western ideals.....the work of the Ramakrishna Mission utterly proves the hollowness of contention that the Vedantic system of philosophy preaches a gospel of extreme selfishness." अर्थात् "मानवीय दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए रामकृष्ण मिशन जो कार्य अत्यंत व्यावहारिक ढंग से कर रहा है वह पूर्वी एवं पश्चिमी आदर्शों के समन्वय का प्रतिरूप है.....रामकृष्ण मिशन का कार्य इस धारणा के खोखलेपन को पूर्णतः सिद्ध करता है कि वेदान्त दर्शन तीव्र स्वार्थपरता का उपदेश देता है।" इस आन्दोलन की विशिष्टता की बात का उल्लेख करते हुए 'लाहौर ट्रिब्यून' ने लिखा—"It was Vivekananda's genions that gave shape to this new and unique movement of a new school of monks in modern times, though perhaps the force of his revered master's spirit was behind: (१०-७-१९०२) अर्थात् "यह विवेकानन्द की प्रतिभा थी जिसने वर्तमान समय में संन्यासियों के नये वर्ग के इस नये एवं अद्वितीय आन्दोलन को आकार प्रदान किया, यद्यपि संभवतः इसके पीछे उनके श्रद्धेय गुरुदेव की आत्मा की शक्ति कार्य कर रही थी।'

ऊपर लिखित सामान्य कुछ पत्रिकाओं के उद्धरणों से जाना जा सकता है कि अपने आविर्भाव के साथ-साथ ही रामकृष्ण मिशन ने जन-जीवन में अपना प्रभाव फैला दिया था। लोगों के सामने मिशन ने ये विशिष्टताएँ उपस्थित की थीं—(१) धर्म को जीवन में व्यावहारिक रूप देना (२) पूर्वी और पश्चिमी आदर्शों का समन्वय (३) जातीय जीवन में संगठन-शक्ति का परिचय देना (४) असाम्प्रदायिक चरित्र (५) भारत में नवयुग की सूचना देना। तब, यह सही बात है कि उस युग में रामकृष्ण मिशन के कार्यों पर मिश्रित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई थीं। अस्पतालों और महामारियों में सेवा-कार्य करने के कारण हरिद्वार और काशी के सनातनी संन्यासीगण मिशन के साधुओं को 'भंगी साधु' (मेहतर साधु) कह कर उल्लेख किया करते थे। उसके साथ ही सनातन मतावलम्बी गृहस्थजन एवं कुछ नये सुधारक भी मिशन का विरोध करते थे। प्रथमोक्त दल का अभियोग था कि मिशन के साधुगण निरामिष भोजन करने, कीर्त्तन करने, छींक की वैज्ञानिक व्याख्या करने, अदृश्य महात्मा और बाल-विवाह में विश्वास नहीं करते। दूसरे दल का अभियोग था कि रामकृष्ण मिशन विधवा-विवाह आन्दोलन नहीं करता, प्रतिमा की उपासना करता है एवं नये समाज-सुधारकों को काफी महत्व नहीं देता। अब तक मिशन के पक्ष में जिस प्रकार जोरदार समर्थन मिला है जन-साधारण की ओर से, उसी प्रकार इसके विपक्ष में आलोचना भी कम नहीं हुई है। इनमें दो महा-आलोचनाओं ने मिशन को विशेष उद्विग्न किया था—पहली आलोचना थी निवेदिता के प्रसंग में और दूसरी भारतीय स्वाधीनता संग्राम में प्रत्यक्ष रूप से योगदान नहीं करने के कारण। इन दोनों प्रसंगों का विवेचन कर देखा जाय।

निवेदिता प्रसंग

बहन निवेदिता जब समाचार पत्रों में वक्तव्य देकर रामकृष्ण मिशन से हट गयीं तब काफी लोगों ने मिशन और तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द के ऊपर दोषारोपण करना शुरू किया। इन लोगों का कथन था कि रामकृष्ण मिशन ने निवेदिता के प्रति अपने दायित्व का पालन नहीं किया। किन्तु किसी संगठन के हित में ही इसकी आवश्यकता होती है। स्वामी विवेकानन्द ने निर्देश दिया था कि रामकृष्ण मिशन किसी भाँति राजनैतिक

कार्यकलापों से जुड़ने न पाये। इतिहास में उन्होंने देखा था कि बौद्ध, ईसाई, और मुसलमान धर्मनेताओं ने राजनीति के साथ जुड़कर किस प्रकार धर्म के छद्मवेश में राजनीति को आयात कर लिया था। स्वामीजी के इसी निर्देश की रक्षा के लिए निश्चय ही स्वामी ब्रह्मानन्द मिशन के किसी साधु-ब्रह्मचारी को राजनीति में नहीं जाने देते थे। (आज भी, इसी कारण, मिशन के संन्यासी और ब्रह्मचारीगण लोक सभा-विधान सभा इत्यादि के निर्वाचन में वोट नहीं देते हैं।) अतएव, निवेदिता जब राजनीति से प्रत्यक्षरूप में जुड़ गयीं, तब स्वामी ब्रह्मानन्द ने उन्हें 'राजनीति हो अथवा मिशन की सदस्यता रहे' यह निर्देश देकेर उचित कार्य ही किया था।

दूसरी बात यह है कि निवेदिता के साथ मिशन का सम्पर्क वैधानिक रूप से टूट जाने पर भी भीतर से वह सम्बन्ध कभी नहीं टूटा। निवेदिता अक्सर बेलुड़ मठ जाती थीं तथा ब्रह्मानन्दजी और सारदानन्दजी के साथ विभिन्न विषयों पर बातें करती थीं। स्वामी विवेकानन्द जी के सम्बन्ध में निवेदिता की The master as I saw him (मेरे गुरुदेव) नामक पुस्तक का प्रकाशन रामकृष्ण मिशन ने ही किया था। निवेदिता के नहीं रहने पर उनके स्कूल का भार भी मिशन के कार्यकर्त्ता ही वहन करते हैं। स्वामीजी की रचनावली के अँग्रेजी में प्रकाशन के समय उसकी भूमिका लिख देने का दायित्व मिशन ने निवेदिता को ही दिया था। स्वामी ब्रह्मानन्द ने निवेदिता को अँग्रेजी में स्वामीजी की जीवनी लिखने एवं बौद्धगया में एक इतिहास-विद्यालय की स्थापना करने के लिए अनुरोध किया था। निवेदिता लिखित पुस्तकों का प्रकाशन मिशन करता था एवं निवेदिता भी अपनी मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व जो 'विल' (वसीयतनामा) लिख गयीं उसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति रामकृष्ण मिशन को ही दी। इतने से ही समझा जा सकता है कि रामकृष्ण मिशन या स्वामी ब्रह्मानन्द ने कभी भी बहन निवेदिता को 'फटकार' नहीं दी।

स्वाधीनता संग्राम में मिशन की भूमिका

स्वाधीनता संग्राम के वर्षों में रामकृष्ण मिशन के संन्यासी-ब्रह्मचारीगण ने अनुशीलन दल, युगान्तर दल, बी० भी० (बंगाल वॉलन्टियर) दल के साथ या गाँधीजी के साथ प्रत्यक्षरूप से स्वाधीनता संग्राम में भाग नहीं लिया—इस कारण से मिशन के प्रति अनेक व्यक्तियों ने कटूक्तियाँ की हैं, आलोचनाएँ की हैं। यहाँ तक कि यह बात भी उनलोगों ने कही कि मिशन स्वामीजी के मार्ग से अलग हो गया है। यह अभियोग सशस्त्र क्रान्तिकारियों ने तो लगाया ही, अहिंसक सत्यग्रहियों ने भी लगाया है।

मैंने पहले ही कहा है कि स्वामीजी ने स्पष्ट निर्देश दिया था कि रामकृष्ण मिशन प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में नहीं रहे। स्वाधीनता संग्राम के युग में मिशन ने राजनीति में भाग नहीं लिया, यह सही है, किन्तु उन दिनों इसकी कर्मधारा क्या थी? इतिहास में हम देखते हैं कि उन दिनों रामकृष्ण मिशन समाज-सुधार और लोक-शिक्षा के व्यापक कार्य में व्यस्त था। सारगाछी (पश्चिम-बंगाल) आश्रम में स्वामी अखण्डानन्द पिछड़े वर्ग के अनाथ बालकों को पढ़ाते-लिखाते और हस्त-शिल्प सिखाते हैं, केरल में स्वामी आगमानन्द जाति-भेद प्रथा के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन चलाते हैं, आसाम के पर्वतांचल में स्वामी प्रभानन्द निम्न जाति के ग्रामों में एक के बाद दूसरे स्कूल की स्थापना करते हैं, काशी और ऋषिकेश में स्वामी शुभानन्द, कल्याणानन्द, निश्चयानन्द दातव्य अस्पतालों का निर्माण करते हैं, मद्रास में हरिजन छात्र-छात्राओं के लिए विद्यालय और छात्रावास निर्मित किये जाते हैं, विहार में संथाल-निवसित क्षेत्रों में स्थापित किये जाते हैं स्कूल और कार्य-शिक्षा केन्द्र। वस्तुतः स्वाधीनता संग्राम के समय, अर्थात् १९०५ ई० से १९४६ ई० तक, रामकृष्ण मिशन की कार्यधारा की ओर लक्ष्य करने पर देखा जाता है कि इस अवधि में मिशन के प्रायः ७३ शाखा-केन्द्र स्थापित हो जाते हैं। ये सब कहाँ स्थापित हुए थे? इसके बीस प्रतिशत कार्य किये गये थे पर्वतांचल में—हिमालय, नीलगिरि पर्वत, खासिया-जयंतिया पर्वतांचल, कछाड़ के पर्वतांचल, सतपुरा पर्वतांचल की महादेव शैलश्रेणी आदि अंचलों में खोले गये थे स्कूल, छात्रावास, अस्पताल, डिस्पेन्सरी इत्यादि। मद्रास के हरिजन क्षेत्र में, बिहार के संथालों के इलाके में, पश्चिम बंगाल के सुन्दर

वन क्षेत्र में, उड़ीसा के आदिवासी निवसित वन क्षेत्र में स्थापित किये गये थे कृषि और कुटीर उद्योग के लिए कार्य-शिक्षा के केन्द्र, वयस्कों के लिए रात्रि पाठशालाएँ, चल चिकित्सा-केन्द्र आदि। कलकत्ता और जलपाई गुड़ी के वस्ती अंचलों में, बाँकुड़ा और डायमन्ड हार्बर के ग्रामीण अंचलों में, मद्रास, आंध्र, आसाम और उत्तरप्रदेश के निम्नवित्त लोगों के बीच पहुँचा दिये गये मातृ-कल्याण की शिक्षा और कार्य। इनके साथ ही चलता है प्राकृतिक आपदाओं में व्यापक रक्षा कार्य—दुर्भिक्ष के समय भोजन और वस्त्र पहुँचाये जाते हैं नोआखाली, सिलहट, मुर्शिदाबाद, उड़ीसा, काछाड़, मैमनसिंह, संथाल परगना, सौराष्ट्र, राजस्थान, ब्रह्म प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश में। दुर्दशाग्रस्त लोगों को बाढ़ के समय सहायता पहुँचायी जाती है—बिहार, पश्चिम बंगाल, पूर्व-बंगाल, आसाम, उड़ीसा, केरल, सौराष्ट्र, आंध्र आदि क्षेत्रों में। आँधी-तूफान, अग्निकांड, महामारी आदि में रक्षा कार्य चलता है—पश्चिम बंगाल, पूर्व बंगाल, आंध्र, केरल, मैसूर, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, हिमाचल, बिहार और मध्यप्रदेश के अंचलों में। १९०५ ई० से १९४६ ई० के बीच कुल मिलाकर ३०० से भी अधिक बार राहत और रक्षा-कार्य चलाने पड़े हैं। स्वाधीनता संग्राम के वर्षों में रामकृष्ण मिशन ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में २०० से अधिक स्कूल-कॉलेज, ५० के लगभग डिस्पेन्सरी-अस्पताल और प्रायः ७० ग्रन्थागार खोल रखे थे।

उपर्युक्त तथ्यों से ही समझा जा सकता है कि उन दिनों रामकृष्ण मिशन ही एकमात्र भारतीय प्रतिष्ठान था जिसने साधारण लोगों के निकट व्यापक रूप से खाद्य-वस्त्र और शिक्षा पहुँचा दी थी। अनेक व्यक्ति यह बात नहीं जानते कि संघबद्ध होकर व्यापक रक्षा-कार्य, व्यापक गृहनिर्माण परियोजना (rural housing scheme) एवं ग्रामीण क्षेत्रों में अनौपचारिक (non-formol) शिक्षा-विस्तार—इन तीन क्षेत्रों में सम्पूर्ण भारतवर्ष में रामकृष्ण मिशन ही पथ-प्रदर्शक था। मिशन के कार्यों से तब प्रमाणित हुआ था कि इच्छा करने पर भारतवासी अपना दायित्व स्वयं संभाल लेते हैं। देश के स्वाधीनता संग्राम में राष्ट्र-गठन का जो एक निश्चित दायित्व है उसे सशस्त्र क्रान्तिकारियों एवं अहिंसक सत्याग्रहियों ने काफी बाद में समझा। वे भी अन्त में जातीय शिक्षा प्रतिष्ठान, स्वदेशी वस्तु निर्माण एवं सरकार के समानान्तर लोक-सेवा का कार्य चलाने की आवश्यकता समझने लगे थे। नेताजी और गांधीजी ने इस ओर बाद में दृष्टि दी थी। उन दिनों जो लोग स्वाधीनता संग्राम में प्रत्यक्ष रूप से योग-दान नहीं करने के कारण रामकृष्ण मिशन की आलोचना करते थे उनमें दूरदृष्टि का अभाव था। इसके अतिरिक्त इसी कारण से तो रवीन्द्रनाथ, सत्येन बोस, मेघनाद साहा रमेश मजुमदार विश्वेश्वरैया, सी० वी० रमण, आशुतोष मुखोपाध्याय आदि प्रमुख मनीषियों की भी आलोचना की जाती है!

□□

गाँव की कहानी : मुसाफिर की जुबानी

—ब्रह्मचारी शम्भु चैतन्य
रामकृष्ण मिशन, राँची

दिनांक : ११ अप्रैल, १९८३
स्थान : सितुमडीह ग्राम (सोनाहातु ब्लॉक) रांची

ग्रीष्म काल की कड़ी धूप है। सूरज देवता की प्रखर किरणों से लोगों की रक्षा के लिए मानो मेघराज बीच-बीच में छत्र धारण कर रहे हैं। दोपहर तीन बजे का समय है। आज मुसाफिर घूमते-घूमते सितुमडीह ग्राम में जा पहुँचा है। वहाँ जा कर देखा प्रायः सभी ग्रामवासी गाँव के बाहर; रास्ते पर खड़े हैं, पूछने पर पता चला, आज यहाँ बड़ा उत्सव है। श्रीरामकृष्णदेव का जयन्ती-उत्सव पहली बार इस गाँव में मनाया जा रहा है। पिछले बीस दिनों से सभी ग्रामवासी इसकी तैयारी में लगे हैं। कुछ लोग सामुदायिक भवन के निर्माण में लगे थे, कुछ लोग रास्ता तैयार करने में, कुछ लोग पूजा-पाठ की तैयारी में तो कुछ लोग सांस्कृतिक कार्यक्रम की तैयारी में। राँची शहर से ८० किलोमीटर की दूरी पर स्थित यह ग्राम इतना भीतर की ओर है कि गाड़ियों के चलने लायक रास्ता भी नहीं है, इसलिए गाँव वालों ने मिलकर बड़ी कठिनाई से रास्ता तैयार किया है ताकि रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची की बस आ सके। आवागमन की सुविधाओं से अति दूरी पर स्थित जगह में, आदिवासियों के बीच में भी श्रीरामकृष्ण परमहंस का प्रभाव जानकर मुसाफिर को बहुत आश्चर्य हुआ। गाँव वालों से पूछने पर मुसाफिर को पता चला कि दस वर्ष पूर्व इस गाँव के एक युवक, महावीर मुण्डा ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची द्वारा संचालित दिव्यायन कृषि विज्ञान केन्द्र में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, वहीं पर श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द भावधारा से प्रभावित होकर उसने गाँव की सेवा में अपना जीवन बिताने का निश्चय किया था। और गाँव में लौटकर उसने पुस्तकालय, रात्रि-पाठशाला आदि सेवाकार्य प्रारंभ किये थे। और वैज्ञानिक तरीके से खेतीबाड़ी कर अपना आर्थिक-विकास भी किया था। इसे देखकर गाँव के और भी कई युवकों ने दिव्यायन में प्रशिक्षण प्राप्त किये थे। प्रशिक्षण से लौटने के बाद सभी ने मिलकर 'विवेकानन्द क्लब' की स्थापना की थी, जिसका नाम हाल ही में बदलकर सर्वसम्मति से 'विवेकानन्द सेवा संघ, रखा गया है। इस क्लब के माध्यम से गाँव के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास का प्रयत्न किया जाता है। इस क्लब की चेष्टा और रामकृष्ण मिशन के सहयोग से कुछ किसानों को बकरी, बैल, पम्पसेट, उन्नत किस्म के बीज, खाद आदि वस्तुएँ सरकार से समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त हुई हैं, कुछ लोगों को बैंक से ऋण भी प्राप्त हुआ है। साप्ताहिक चर्चा मण्डल में वैज्ञानिक तरीके से खेती-बाड़ी करने के सम्बन्ध में चर्चा-विचारणा भी होती है। कभी-कभी रामकृष्ण मिशन की सहायता से किसान गोष्ठी, प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं सिनेमा आदि का भी आयोजन किया जाता है। क्लब के द्वारा एक रात्रि-पाठशाला छोटे बच्चों के लिए तथा एक रात्रि-पाठशाला बड़ों के लिए चलायी जा रही है जिसमें क्लब के युवक सदस्य, जो दिव्यायन में प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं अपनी सेवाएँ निःशुल्क देते हैं। इसके अलावा एक पुस्तकालय भी है जिसमें लगभग ३५० पुस्तकें हैं, प्रतिदिन 'रामकृष्ण वचनामृत' एवं 'रामचरितमानस' पर पाठ होता है, कीर्तन मण्डली, खेलकूद क्लब आदि कार्यक्रम भी क्लब द्वारा चलाए जा रहे हैं। ग्रामवासियों से मुसाफिर को पता चला कि बहुत वर्षों से वे लोग श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव मनाने की सोच रहे थे और उन स्वामीजी लोगों के दर्शन के लिए लालायित थे, जिनकी

वजह से आज यह गाँव इतनी प्रगति कर सका है। बहुत वर्षों का स्वप्न आज पूरा होनेवाला है, इसलिए सभी लोग उत्सुकता पूर्वक स्वामीजी आदि लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुसाफिर को बातचीत से पता चला कि बहुत से ग्रामवासी श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेश से भलीभाँति परिचित हैं।

इतने में ही रामकृष्ण मिशन की बस, स्वामीजी लोगों, भक्तों और अन्य अतिथियों के साथ पहुँची। जैसे ही बस रुकी, उपस्थित शतशत नर-नारी, बालक वृद्ध सभी ने जयजयकार किया। 'जय भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जय" 'जय माँ सारदा देवी की जय" "जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय" आदि नारों से आकाश गूंज उठा। ढोल नगाडे तुरही भेरी आदि बज उठे। चारों ओर तुमुल हर्षध्वनि हो रही थी। नृत्य मण्डलियों ने स्वागत के उपलक्ष्य में पारम्परिक आदिवासी नृत्य शुरू किया। एक ओर गाँव की स्त्रियाँ हाथ में अगरबत्ती लेकर आरती करने लगीं, दूसरी ओर युवकों ने 'रामकृष्ण शरणम्' गान प्रारम्भ किया। स्वामीजी लोगों के उतरते ही एक के बाद एक सभी को माला पहनायी गयी और सभी के पाँव पारम्परिक विधि से धोये गये। चारों ओर से पुष्पवृष्टि हो रही थी। पत्तों से लदा इस अवसर पर निर्मित द्वार भी फूलों से मानो छा गया। अब सभी लोग एक जुलूस के रूप में आगे बढ़े। सबसे आगे स्त्रियां अपनी पीठ को न दिखलाती हुई उलटे पाँव पीछे जा रही थीं। फिर तीन अलग-२ नृत्य मण्डलियाँ पारम्परिक आदिवासी नृत्य करती हुई जा रही थीं, बाकी सभी 'रामकृष्ण शरणम' गाते एवं जय जयकार करते हुए उत्सव स्थल की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। करीब आधा कीलो मीटर लम्बे रास्ते में दोनों ओर खड़े शतशत नर-नारी और बच्चे अनवरत पुष्प वृष्टि कर रहे थे, बीच-बीच में पटाखों की आवाज भी आ रही थी। अद्भुत था वह दृश्य और अपूर्व था वह वातावरण। मुसाफिर को लगा कहीं वह पृथ्वीलोक छोड़कर स्वर्ग में तो नहीं आ गया! रामचन्द्रजी का अयोध्या में वापस लौटने के समय कैसा स्वागत हुआ होगा, स्वामी विवेकानन्द का अमेरिका से विजय के बाद लौटने पर भारतवर्ष में कैसा स्वागत हुआ होगा यही सोचता हुआ मुसाफिर जुलूस के साथ ही आगे बढ़ रहा था।

उत्सव-स्थल में जाकर मुसाफिर ने देखा कि वहाँ एक नृत्य मण्डली पहले से ही छो—नाच में निमग्न है। सुन्दर शामियाना है मंच पर भगवान श्रीरामकृष्ण देव, माँ शारदादेवी एवं स्वामी विवेकानन्द के चित्र बनाये गये हैं। पीछे ही नव निर्मित सामुदायिक भवन है। मुसाफिर को पूछने पर पता चला कि मात्र २० दिनों में ग्रामवासियों ने मिलकर रात-दिन परिश्रम कर उसे पूरा किया है। ७० फीट लम्बे और ३५ फीट चौड़े इस मिट्टी के मकान की लागत केवल ५००० रु० मात्र है, जिसकी व्यवस्था रामकृष्ण मिशन द्वारा की गयी थी। पहुँचते ही रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के सचिव स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी महाराज ने इस भवन का उद्घाटन किया। भवन के भीतर भी भगवान श्रीरामकृष्ण देव, माँ शारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के चित्र लगे थे, जिनकी पूजा सुबह हुई थी। मंगल आरती और पूजा के बाद बच्चों के द्वारा शोभायात्रा, प्रसाद वितरण आदि कार्यक्रम भी सुबह हुए थे। अब स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी ने आरती प्रारम्भ की, एक साथ कई घन्टे शंख आदि बज उठे। जय जयकार की ध्वनि गूँज उठी।

अतिथियों को शरबत पिलाने के बाद सार्वजनिक सभा प्रारम्भ हुई। आस-पास के गाँववाले भी सभा में शामिल हुए थे! इतनी अधिक भीड़ होने पर भी सभी ने संयत होकर रामकृष्ण मिशन के स्वामी रामानुजानन्द जी द्वारा 'रामचरितमानस' पर पाठ सुना और बाद में उसी उत्साह से अन्य स्वामीजीगण द्वारा "भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेश" पर प्रवचन भी सुने। दिव्यायन के वयोवृद्ध संगीत शिक्षक श्री दुखहरण नायक ने चित्ताकर्षक रूप से स्थानीय भाषा में प्रवचन दिया।

संध्या हो रही थी। रास्ता अत्यधिक संकटमय था। इसलिए रामकृष्ण मिशन के स्वामीजी गण एवं अन्य-लोग जलपान कर शीघ्र ही वापस रवाना हुए। ग्राम-वासियों ने जय-जयकार की ध्वनि से भावभीनी विदाई दी। मुसाफिर की बहुत इच्छा थी कि वह भी इसी बस में चला जाए क्योंकि आवागमन का अन्य साधन मिलना भी मुश्किल था। फिर यह अच्छा अवसर था रामकृष्ण मिशन के स्वामीजी लोगों से परिचय का। बिशेषकर लन्दन से आये जर्मन ब्रह्मचारी से भेंट का अच्छा अवसर था, क्योंकि पता लगा कि वह कुछ ही दिनों के लिए रामकृष्ण संघ की लन्दन शाखा से, भारतवर्ष आये हैं, और आज पहलीवार वे अपने जीवन में भारतीय ग्राम का अनुभव करने यहाँ आये हुए हैं। किन्तु, न जाने क्यों, मानो कोई उसके मन को खींच रहा था। अन्ततः वह नहीं जा सका। उसने सोचा, पूरा कार्यक्रम देख ही लूँ। सुबह जाने में असुविधा न होगी। जहाँ तक आज रात सोने का सवाल है, व्यवस्थापकों से अनुरोध करने पर कुछ व्यवस्था हो ही जायगी। किन्तु यह अनुरोध करने का अवसर मुसाफिर को नहीं लगा। पूरी रात सुबह आठ बजे तक कार्यक्रम चलता रहा। दूर-दूर के गाँवों से-करीब ३-४ हजार लोग भी इसमें शामिल हुए; सर्व-प्रथम रामकृष्ण मिशन की चल इकाई द्वारा सम्पूर्ण रामायण पर और बाद में भगवान श्रीरामकृष्ण पर चलचित्र का प्रदर्शन हुआ। इसके बाद नृत्य-गान आदि करते सुबह आठ बज गए। ग्रामवासियों के उत्साह को दाद देता हुआ मुसाफिर वहाँ से चला।

□

देवर्षि नारद

(पृष्ठ २४ का शेषांश)

मधुर भाषी हैं। वे मनुष्यों के विचित्र आचरण देखते हैं किन्तु किसी की निन्दा नहीं करते। मनुष्य-मनुष्य के बीच मेल-मिलाप कराने में वे निपुण हैं। वे किसी विषय में आसक्त नहीं हैं, फिर ऐसा लगता है मानो वे सभी विषयों के प्रति आग्रहशील हैं। किसी विषय में स्थिर सिद्धान्त में उन्नीत होने में उन्हें देर नहीं लगती। वे अपने विश्वास के अनुसार चलते हैं, किन्तु दूसरों के मत के प्रति अवज्ञा का प्रदर्शन नहीं करते। लाभ होने से वे आनन्दित या क्षति होने से व्यथित नहीं होते। वे स्थिर बुद्धि और अनासक्त हैं। इन सारे सद्गुणों से विभूषित नारद सर्वत्र सबके द्वारा पूजित हैं।" (महाभारत, शान्ति पर्व)

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥
(श्रीमद्भागवत १।६।३९)

"अहो! ये देवर्षि (नारदजी) धन्य हैं। वे वीणा वाद्य द्वारा नारायण का गुणगान कर केवल स्वयं ही मस्त नहीं रहते बल्कि इस दुःखी जगत् को भी आनन्द प्रदान करते हैं।'

अग्नि-मंत्र

—स्वामी विवेकानन्द

(प्रस्तुत पत्र स्वामी विवेकानन्द द्वारा कुमारी मेरी हेल को लंदन से १ नवम्बर, १८९६ को लिखा गया था। जिसे हम विवेकानन्द साहित्य, पंचम खंड, पृष्ठ ३८४-८७ से साभार प्रकाशित कर रहे हैं—सं० १)

प्रिय मेरी,

'सोना और चांदी मेरे पास किंचित् मात्र नहीं है, किन्तु जो मेरे पास है वह मैं तुम्हें मुक्तहस्त दे रहा हूँ'। —और वह यह ज्ञान है कि स्वर्ण का स्वर्णत्व, रजत का रजतत्व, पुरुष का पुरुषत्व स्त्री का स्त्रीत्व और सब वस्तुओं का सत्यस्वरूप परमात्मा ही है, और इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाह्य जगत् में हम अनादि काल से प्रयत्न करते आ रहे हैं, और इस प्रयत्न में हम अपनी कल्पना की विचित्र वस्तुओं—पुरुष, स्त्री, बालक, शरीर, मन, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, संसार, प्रेम, द्वेष, धन सम्पत्ति इत्यादि को, और भूत, राक्षस, देवदूत, देवता, ईश्वर इत्यादि को भी—त्यागते रहे हैं।

सच तो यह है कि प्रभु हममें ही है, हम स्वयं प्रभु हैं—जो नित्य द्रष्टा, सच्चा 'अहम्' तथा अतीन्द्रिय है। उसे द्वैत भाव से देखने की प्रवृत्ति तो केवल समय और बुद्धि को नष्ट करना ही है। जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है, तब वह विषयों का आश्रय लेना छोड़ देता है और आत्मा की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। यही क्रम-विकास है अर्थात् अन्तर्दृष्टि का अधिकाधिक विकास एवं बहिर्दृष्टि का अधिकाधिक लोप। सर्वाधिक विकसित रूप मानव है, क्योंकि वह मननशील है—वह ऐसा प्राणी है जो विचार करता है, ऐसा प्राणी नहीं जो केवल इन्द्रियों से सम्बद्ध है। धर्मशास्त्र में इसे 'त्याग' कहते हैं। समाज का निर्माण, विवाह की व्यवस्था, सन्तान-प्रेम, हमारे शुभ कर्म, शुद्धाचरण और नैतिकता, ये सब त्याग के विभिन्न रूप हैं। सब समाजों में हम लोगों का जीवन इच्छा, पिपासा या कामना के दमन में ही निहित है। इच्छा अथवा मिथ्या आत्मा के इस परित्याग—स्वार्थ से निकलने की अभिलाषा, नित्य द्रष्टा को द्वैत भाव से देखने के प्रयत्न के विरुद्ध संघर्ष के भिन्न-भिन्न रूप तथा उनकी अवस्थाएँ ही संसार के भिन्न-भिन्न समाज एवं सामाजिक नियम हैं। मिथ्या आत्मा के समर्पण तथा स्वार्थविग्रह का सबसे सरल उपाय है प्रेम तथा इसका विपरीत उपाय है द्वेष।

स्वर्ग-नरक तथा आकाश के परे राज करनेवाले शासकों से सम्बद्ध अनेक कथाओं अथवा अंधविश्वासों के द्वारा मनुष्य को भुलावे में डालकर उसे आत्मसमर्पण के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया जाता है। इन सब अन्ध-विश्वासों से दूर रहकर तत्वज्ञानी वासना के त्याग द्वारा जानबूझकर इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है।

बाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना में ही है परन्तु मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध के कारण की व्यर्थ खोज करने के बाद, कस्तूरी-मृग अन्त में उसे अपने में ही पाता है।

बाह्य समाज सर्वदा शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होगा—बाह्य जीवन की अनुगामी उसकी छाया अर्थात् मृत्यु, सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्बा होगा, उसकी छाया भी उतनी ही लम्बी होगी। केवल जब सूर्य हमारे सिर पर होता है, तब कोई छाया नहीं होती। जब ईश्वर, शुभ और अन्य सब कुछ हममें ही हैं तो अशुभ कहाँ? परन्तु बाह्य जीवन में प्रत्येक क्रिया

की प्रतिक्रिया होती है और हर शुभ के साथ अशुभ उसकी छाया की तरह जाता है। उन्नति में अधोगति का समान अंश रहता हैं, कारण यह है कि अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं, दो नहीं, भेद अभिव्यक्ति में है—मात्रा में है, न कि जाति में।

हमारा जीवन स्वयं दूसरों की मृत्यु पर अवलम्बित है, चाहे वनस्पतियाँ हों, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक बड़ी भारी भूल जो हम लोग बहुधा करते हैं, वह यह कि शुभ को हम सदा बढ़नेवाली वस्तु समझते हैं और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन-दिन घट रहा है तो एक समय ऐसा आयेगा, जब शुभ ही अकेला शेष रह जायगा। मिथ्या पूर्व पक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा बढ़ रही है तो अशुभ की भी बढ़ती है। मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी आकाक्षाएँ बहुत बढ़ गयी हैं। मेरा सुख उनसे अत्यधिक है, परन्तु मेरा दुःख भी उनसे लाखों गुणा तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हें शुभ के स्पर्श मात्र का आभास होता है, उसीसे तुम्हें अशुभ के स्पर्श मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओं द्वारा सुख का अनुभव होता है, उन्हीं के द्वारा दुःख का भी; और एक ही मन दोनों का अनुभव करता है। संसार की उन्नति का अर्थ है सुख और दुःख—दोनों की अधिक मात्रा। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण—यही 'माया' कहलाती है—यही है विश्व का नियम। तुम अनन्त काल तक इस जाल में सुख और दुःख की खोज करो—तुम्हें बहुत सुख और बहुत दुःख दोनों मिलेंगे। यह कहना कि संसार में केवल शुभ ही हो, अशुभ नहीं बालकों का प्रलाप मात्र है। दो मार्ग हमारे सामने हैं—एक तो सब प्रकार की आशा को छोड़कर संसार जैसा है वैसा स्वीकार करके, दुःख की वेदना को सहन करें, इस आशा में कि कभी-कभी सुख का अल्पांश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह है कि हम सुख को दुःख का ही एक दूसरा रूप समझकर सुख की खोज को त्याग दें तथा सत्य की खोज करें—और जो सत्य की खोज करने का साहस रखते हैं, वे उसे नित्य अपने में ही विद्यमान पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य किस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है— हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो शुभ और अशुभ दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा।

इस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि ये सब बातें उसी एक अस्तित्व—सत्-चित-आनन्द सब चीजों के अस्तित्व स्वरूप, मेरे यथार्थ स्वरूप की भिन्न-भिन्न प्रतिच्छायाएँ मात्र हैं। तब और केवल तभी बिना बुराई के भलाई करना सम्भव होता है, क्योंकि ऐसी आत्मा ने उस पदार्थ को जिनसे कि शुभ और अशुभ दोनों का निर्माण होता है, जान लिया है और अपने वश में कर लिया है, और वह अपनी इच्छानुसार एक या दूसरे का विकास कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि वह केवल शुभ का ही विकास करता है। यही 'जीवन्मुक्ति' है जो वेदान्त का और सब तत्व-ज्ञानों का अन्तिम लक्ष्य है।

मानवी समाज पर चारों वर्ण—पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मजदूर बारी-बारी से शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष होता है। जब ब्राह्मण का राज्य होता है, तब आनुवंशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है—पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं, उनके अतिरिक्त किसी को कोई ज्ञान नहीं होता, और उनके अतिरिक्त किसी को शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यह इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं।

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है।

उसके बाद वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने की और खून चूसने की मौन शक्ति अत्यन्त भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, इसलिए वह पहले दोनों युगों में एकत्र किये हुए विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है।

अन्त में आयेगा मजदूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण—और उससे हानि होगी, कदाचित् संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा, परन्तु असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जायेंगे।

यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो जिसमें ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रिय युग की सभ्यता, वैश्य-युग का प्रचार-भाव और शूद्र-युग की समानता रखी जा सके—उनके दोषों को त्याग कर तो वह आदर्श राज्य होगा। परन्तु क्या यह सम्भव है?

परन्तु पहले तीनों का राज्य हो चुका है। अब शूद्र शासन का युग आ गया है—वे अवश्य राज्य करेंगे, और उन्हें कोई रोक नहीं सकता। सिक्के का स्वर्ण अथवा रजतमान रखने में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं, मैं यह सब नहीं जानता (और मैंने देखा है कि कोई भी इस विषय में अधिक नहीं जानता) परन्तु मैं यह देखता हूँ कि स्वर्णमान ने धनवानों को अधिक धनी तथा दरिद्रों को और भी अधिक दरिद्र बना दिया है। ब्रायना ने यह ठीक ही कहा था कि 'सोने के भी क्रॉस पर हम लटकाया जाना पसंद न करेंगे।' रजतमान हो जाने पर इस आसमान-युद्ध में गरीबों के पक्ष में कुछ बल आ जायगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण-रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है।

और सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो—यदि और किसी कारण से नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही युग के व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बटवारा करना अच्छा है। शुभ और अशुभ की समष्टि संसार में समान ही रहती है। नये मतवादों से वह भार कंधे से कंधा बदल लेगा, और कुछ नहीं।

इस दुःखी संसार में सब को सुख-भोग का अवसर हो, जिससे इस तथाकथित सुख के अनुभव के पश्चात् वे संसार, शासन-विधि और अन्य झंझटों को छोड़ कर प्रभु के पास आ सकें।

तुम सबको मेरा प्यार।

एक बात आपको अवश्य बतला दूँ। भारतवर्ष में मूर्त्ति-पूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह व्यभिचार की जननी नहीं है। वरन वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक-भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं, उनके कुछ अपने अपवाद हैं, पर यह ध्यान रखिए कि उनके वे दोष अपने शरीर को ही उत्पीड़ित करने तक सीमित हैं, वे कभी अपने पड़ोसियों का गला नहीं काटने जाते। एक हिन्दू धर्मान्ध भले ही चिता पर अपने आप को जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए 'इन्क्विजिशन' की अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा। और इस बात के लिए उसके धर्म को उससे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जितना डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द।

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

— स्वामी विवेकानन्द

मंगल कामनाओं के साथ

मंगला मेटल्स

मेटल कन्टेनर के निर्माता

एवम् जेनरल आर्डर सप्लायर्स

ए २, पत्रकार नगर,
कंकड़बाग कॉलोनी,
पटना—२०

This is the gist of all worship –to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

SWAMI VIVEKANANDA

WITH BEST COMPLIMENTS FROM:

MANGALA METAL

(Manufacturer of Metal Container and General Order Suppliers)

A 2, Patrakar Nagar,
Kankarbagh Colony,
PATNA—20

With best compliments from:—

CARLSBAD ENGINEERING & INDUSTRIES PVT. LTD.

Cold Storage-Ice-Aerated Waters & Agency Departments

Factory :—
14, Kshorode Chandra Ghose Rd.
(Formerly-Watkins Lane)
HOWRAH.

PHONES : 66-3652,
66-2126

GRAM : 'AERATERS' HOWRAH

Registered Office :—
"Shantiniketan"
(4th Floor-Room No. 2)
8, CAMAC STREET
CALCUTTA-700 017.

PHONES : 44-1610
43-5746
43-4956

GRAM : BEEKEGENT

****

With best Compliments from:—

ESTD. 1919

HUKUMCHAND JUTE MILLS LIMITED

Regd. Office

15, INDIA EXCHANGE PLACE, CALCUTTA-700001

Telegram : "HUKUMILLS" Calcutta
Telex : ORI 2771 HCJM IN

Telephone : 22-3411
(6 Lines)

JUTE MILLS DIVISION :
Manufacturers & Exporters of :

QUALITY HESSIAN, SACKING, CARPET BACKING CLOTH, TWINE, COTTON BAGGING, JUTE YARN, JUTE FELT ETC.

CHEMICALS DIVISION :
Manufacturers of :

CAUSTIC SODA LYE (Rayon Grade)
LIQUID CHLORINE,
HYDROCHLORIC ACID &
HYPOCHLORITE